आलोचना के सिद्धान्त

आलोचना के सिद्धान्त

शिवदानसिंह चौहान

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

द्वितीय खण्ड

पाश्चात्य आलोचना का विकास

तृतीय खण्ड

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या

प्रथम खण्ड

भारतीय आलोचना का विकास

: १ :

भारतीय काव्य-शास्त्र की प्राचीनता

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। 'नाट्यशास्त्र' की रचना कब और किस काल में हुई, इस बारे में वर्तमान संस्करणों के आधार पर विद्वानों ने जो खोजबीन की है, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूलरूपेण 'नाट्यशास्त्र' सूत्र-काल (छठी से दूसरी शती ई० पू०) की रचना है, और आरंभ में भरतमुनि के ग्रन्थ का रूप सूत्रात्मक ही था। किन्तु बाद में चार-पांच शताब्दियों तक, यानी ईसवी सदी की पहली या दूसरी शती तक कोहल, शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंग आदि अनेक आचार्य भरत-सूत्रों के अभिप्रायों को समझाने के लिए उसमें अपने भाष्य और नाटकीय विषयों के विस्तृत विवरण और उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले श्लोक जोड़ते रहे। इस प्रकार वर्तमान रूप में 'नाट्यशास्त्र' कई शताब्दियों के नाट्य-प्रयोगों का 'परिणत-फल' है। इस समय तक केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'नाट्यशास्त्र' का वर्तमान रूप कालिदास से पूर्व का है, क्योंकि उसमें कालिदास की कृतियों का उल्लेख नहीं मिलता; साथ ही [illegible] सन् की पहली शताब्दी के बाद का है, क्योंकि [illegible] विदेशी जातियों का [illegible] थे। इस प्रकार [illegible]

[illegible]) के समकालीन [illegible] में ही परिचित [illegible] नाटक-संबंधी

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के मूलाधार बने हुए हैं। भरतमुनि को भी संस्कृत तथा प्राकृत में रचे भारतीय साहित्य और विभिन्न भारतीय कलाओं के अतिरिक्त और किसी विदेशी साहित्य या कला का परिचय[1] नहीं था लेकिन उन्होंने काव्य, नाट्य, नृत्य, संगीत, चित्र आदि के प्रसंग में जिस रस-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया, वह भी दो हजार साल से भारतीय काव्य शास्त्र और भारतीय ललित कलाओं की परवर्ती विचारधाराओं और प्रवृत्तियों की मूलदृष्टि और प्रेरणा बना हुआ है।

हमने कहा है कि भरतमुनि संभवतः शुंग-काल के मुनि रहे होंगे। शुंग-काल भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अत्यन्त समृद्ध काल है। भरतमुनि को विरासत के रूप में लगभग दो हजार साल पुरानी आर्य तथा

---

१. संभव है कि भरतमुनि के समय तक सिकन्दर का भारत पर आक्रमण हो चुका हो और यूनानियों और भारतीयों में वाणिज्य-व्यवसाय और विचारों का आदान-प्रदान भी शुरू हो गया हो। लेकिन भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर यूनानी दर्शन या सौन्दर्य-दृष्टि का प्रभाव बिल्कुल नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' की दार्शनिक पृष्ठभूमि पूर्णतः भारतीय है। इस संबंध में दो बातें ज्ञातव्य हैं। अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' (पोयटिक्स) की रचना यद्यपि ३३० ई० पू० में हुई थी, किन्तु उसकी प्राचीनतम ग्रीक प्रतिलिपि १००० ईसवी सन् की ही उपलब्ध है, जो कि अधूरी है, क्योंकि उसका 'कॉमेडी' का विवेचन करनेवाला भाग तब तक खो चुका था। इसके अलावा पाश्चात्य जगत में भी यूनान से बाहर अरस्तू के 'काव्य शास्त्र' का प्रचलन सबसे पहले पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ, जब कि सन् १४९८ में इतालवी विद्वान् वाला ने लातीनी भाषा में उसका अनुवाद किया। पिछली चार-पांच शताब्दियों से ही पाश्चात्य जगत में अरस्तू द्वारा निर्धारित सौन्दर्य-सिद्धान्तों का प्रयोग होने लगा है और उसे विश्व-व्यापी मान्यता प्राप्त हुई है। भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र', इसके विपरीत पिछले दो हजार साल से लगातार समस्त भारतीय कला और काव्य-चिन्तन का आधार बना हुआ है।

के व्यक्तिगत पूर्वग्रहों के लिए गुंजाइश नहीं रहती, क्योंकि विवेच्य व और घटना के सभी पहलुओं और उनके अन्तःसंबंधों को उद्घाटित कर समग्र दृष्टि से देखना होता है। इस सत्यनिष्ठा और वस्तून्मुखी दृष्टि के अभाव में अपने पूर्वग्रहों के अनियंत्रित बौद्धिक व्यायाम से हमारे आधुनिक विद्वानों ने भरतमुनि की रस-व्यवस्था तथा अन्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ जैसी खींच-तान की है, उसका परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने उनकी जीवन्त और स्थायी मूल्य रखनेवाली उद्भावनाओं को तो केवल आनुषंगिक महत्व दिया और युग-सापेक्ष वर्गीकरण और व्यवस्था को उनका मूलतत्त्व मानकर आज की परिस्थिति और साहित्य-कला-प्रयोगों पर घटित करने की कोशिश की, जिनके साथ उनकी कोई संगति नहीं है। इससे वे न तो प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का 'आधुनिकीकरण' ही कर सके और न उनका व्यावहारिक उपयोग ही। इन विद्वानों की कृपा से हमारे देश में प्राचीन काव्य-शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन एक औपचारिक कर्तव्य बन गया है, जिसका शिक्षक या पाठक के सौन्दर्य-बोध की अभिवृद्धि से कोई नाता नहीं रहा, क्योंकि आधुनिक साहित्य और कला को समझने, परखने और उसका आस्वाद लेने में इस अध्ययन से कोई लाभ नहीं होता। साहित्य और कला की आधुनिक कृतियों की विचार-वस्तु और रूप-गठन को समझने और उसमें आनन्द लेने के लिए आलम्बन-उद्दीपन, भाव-विभाव-अनुभाव-संचारीभाव, अलंकार, वक्रोक्ति, गुण, रीति, शब्द-शक्ति, आदि प्राचीन वर्गीकरणों की भाषा निष्प्राण, निष्प्रयोजन और असंगत हो गई है और पाठक को कला-समीक्षा के लिए एकदम नयी ही भाषा सीखनी पड़ती है।

अरस्तू के साहित्य-सिद्धान्तों की परम्परा से सौन्दर्य-बोध ग्रहण करके पाश्चात्य आलोचक केवल प्राचीन योरपीय साहित्य ही नहीं बल्कि पाश्चात्य और पूर्वात्य, प्राचीन तथा आधुनिक—समग्र विश्व-साहित्य का मूल्यांकन करने में समर्थ हो सके, लेकिन हमारे भारतीय काव्य-शास्त्र में निष्णात विद्वान उसके आधार पर विश्व-साहित्य की महानतम कृतियाँ तो दूर, आधुनिक भारतीय साहित्यों की श्रेष्ठ रचनाओं का भी सही मूल्यांकन नहीं

कर पाते। सब से मजेदार बात तो यह है कि वे शकुन्तला, रामायण, मेघदूत या उत्तररामचरित नाटक-जैसी महान प्राचीन कृतियों का भी सही मूल्यांकन प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं! प्राचीन काव्य-शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन उनकी दृष्टि को शिल्प-कौशल तक ही सीमित कर देता है और रचनाओं के व्यापक अर्थ के नाम पर वे अपने धार्मिक अंधविश्वासों की भावुक अभिव्यक्ति को ही मूल्यांकन का पर्याय समझ लेते हैं। इसमें दोष प्राचीन आचार्यों का नहीं है, बल्कि उनके आधुनिक व्याख्याकारों और संकलनकर्ताओं का है। इधर मराठी के विद्वान आलोचक दि० के० बेडेकर[1] और डाक्टर सुरेन्द्र बारलिंगे[2] ने इस गड़बड़ी की ओर ध्यान बंटाया है, लेकिन विश्वविद्यालयों का अध्यापक-वर्ग अभी तक लकीर का फकीर बना हुआ है। पुस्तक-बाजार में प्राचीन भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का परिचय देनेवाले अध्यापकों के लिए ग्रन्थों की इन दिनों बाढ़-सी आ गयी है, लेकिन उनके अनुशीलन से पता चलता है कि जैसे इधर-उधर से जमा करके साहित्य और कला-संबंधी विभिन्न मतों के असंख्य, असंबद्ध उद्धरणों से परचून या स्टेशनरी की दुकान सजायी गयी है। किसी वस्तुपरक अध्ययन और शोध का उनसे कहीं पता नहीं चलता।

प्राचीन भारतीय आलोचना किसी एक ही युग की देन नहीं है, बल्कि अनेक युगों में व्याप्त उसके विकास-क्रम की धारा ने लगभग दो हज़ार साल का विस्तार घेरा है। सूत्र-कालीन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से लेकर सत्रहवीं शताब्दी में मुगल सम्राट् शाहजहाँ के दरबारी पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' की रचना के बीच की दीर्घ अवधि में सैकड़ों विद्वानों और आचार्यों ने उसका विकास किया है। साहित्य-शास्त्र को

---

१. देखिए 'आलोचना' के ३, ४ अंकों में प्रकाशित 'रस-सिद्धान्त का स्वरूप' निबंध।

२. देखिए 'समालोचक' के जून, अगस्त और नवम्बर (१९५८) के अंकों में प्रकाशित 'भरतमुनि का रस-सिद्धान्त' निबंध।

इतनी दीर्घ और सुविशाल परम्परा विश्व की किसी भी प्राचीन भाषा
अरबी, चीनी, यूनानी, लातीनी—में नहीं मिलती।[1] श्री नन्ददु
वाजपेयी ने अनेक परिणतियों से भरे और विभिन्न दृष्टिकोणों अ
साम्प्रदायिक मतों से अन्तर्गुम्फित काव्य-दर्शन के ऐतिहासिक विकास-क
को युगों में विभाजित किया है।[2] (१) भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रारंभि
निर्माण का युग—उद्भव-काल से लेकर भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र
तक—जिसमें काव्य से संबद्ध वस्तुओं का व्यवस्थित नामकरण हुआ औ
काव्य के प्रधान-तत्त्व खोज लिए गये—रस-सिद्धान्त के रूप में। (२
अन्वेषण और विशद विवेचन का युग—जिसमें एक सुव्यवस्थित काव्य
दर्शन का आविर्भाव हुआ तथा रस या काव्य-सत्य के समस्त पक्षों पर विभिन्न

---

१. प्राचीन भारतीय (संस्कृत) साहित्य-शास्त्र की इस दीर्घ परम्परा के निर्माण का श्रेय बहुत-कुछ काश्मीरियों को है। काश्मीरी जाति संख्या में यूनानी जाति से छोटी है और संस्कृत कभी काश्मीरियों की मातृभाषा नहीं रही। भरतमुनि कहां के थे, यह अज्ञात है, लेकिन उनके बाद ईसा की छठी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक भारतीय साहित्य-शास्त्र का विकास एक प्रकार से काश्मीर में ही हुआ। रस के अलावा उसके अन्यान्य सम्प्रदायों—अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य—के जन्मदाता—भामह, आनन्दवर्धन, वामन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि काश्मीरी आचार्य ही थे। रस-सिद्धान्त के प्रमुख टीकाकार—उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत, मातृगुप्ताचार्य और अभिनवगुप्त आदि भी काश्मीरी ही थे। व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट और ध्वनि के माध्यम से संपूर्ण काव्य-शास्त्र का समन्वय करनेवाले आचार्य मम्मट भी काश्मीरी थे। उद्भट, रुद्रट, रुद्रभट्ट, रुय्यक, मुकुलभट्ट, वाग्भट्ट तथा वाग्भट्ट (द्वितीय) आदि अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्य-चिन्तक भी काश्मीरी ही थे।

२. देखिए 'आलोचना' के ४ अंक में प्रकाशित 'भारतीय काव्य-शास्त्र का नवनिर्माण' निबंध।

दृष्टिकोणों से गवेषणा की गई। (३) काव्य-तत्त्व-चिंतन का युग, जिसमें अनेक काव्य-संबंधी मत प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुए और उनके आधार पर अनेक काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना हुई। (४) समन्वय युग—जो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक चलता है जिसमें मम्मट द्वारा विभिन्न मतों को समन्वित करने का कार्य पंडितराज जगन्नाथ तक बराबर चलता रहा। इसके बाद विघटन और विकलन का युग और अंत में आधुनिक पुनरुत्थान और नवजागरण का युग, जो प्रस्तुत निबंध की सीमा से बाहर के हैं।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के इतिहास-लेखन या नव-निर्माण (?) के लिए इस प्रकार का युग-निरूपण ऊपर से देखने में काफी आकर्षक और सारपूर्ण लगता है। लेकिन अगर अधिक अंतरंग दृष्टि से देखें तो यह कार्य दुःसाध्य ही नहीं है, बल्कि प्राचीन भारतीय आलोचना का परिचय देने-वाली असंख्य पुस्तकों में उसका 'चौं-चौ-का-मुरब्बा-जैसा' जो स्वरूप प्रकाशित किया जाता है, उससे अधिक व्यवस्थित परिचय विभिन्न युगों मे बँटे ऐसे इतिहास में भी नहीं प्रकट हो सकेगा। फर्क सिर्फ इतना होगा कि इस मुरब्बे को चार या छः युगों के लेबिलों में मंडित अलग-अलग पेटिकाओं में बंद करके विद्यार्थियों को परसा जायगा। उनके पल्ले फिर भी कुछ नहीं पड़ेगा। हमारे अलंकार-ग्रन्थों की विपुल राशि मे व्यक्त विभिन्न मत-मतान्तरों और साहित्य-दृष्टियों, काव्य-लक्षणों, रस, रीति गुण, अलकार, ध्वनि और औचित्य-संबंधी विवेचनों और सूक्ष्म वर्गीकरणों का व्यवस्थित ज्ञान प्रदान करने मे प्रस्तावित इतिहास कोई मदद नहीं करेगा। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इन विभिन्न साहित्य-सिद्धान्तों के प्रवर्तक आचार्यों के मन्तव्यों को सत्यनिष्ठापूर्वक समझने के लिए पहले तो उनको प्रवृत्यात्मक आधार पर दो वर्गों मे बांटा जाय और फिर काव्य के शब्द-शिल्प (रूप) से संबंध रखनेवाले तथा उसके अर्थ (भाव-विचार-वस्तु और सौन्दर्यानुभूति) से संबंध रखनेवाले इन दोनों वर्गों के साहित्य-सिद्धान्तों का समग्र-रूप से अलग-अलग अध्ययन करके उनकी स्थापनाओं

में जो देश-काल सापेक्ष तत्त्व (दार्शनिक-सामाजिक विचार-सूत्र ए
एकांगी पूर्वग्रह आदि) हैं, उनके साथ अन्तर्गुम्फित साहित्य और कला-सं
उन उपपत्तियों और विचार-सूत्रों को अलग किया जाय जो देश-का
निरपेक्ष हैं, जो काव्य और कला-निर्मिति या उसके प्रेरण-व्यापार
सार्वजनीन और सार्वभौम तत्त्वों का निरूपण करते हैं, अर्थात् जिन
सामान्य सौन्दर्य-नियमों की उद्भावना हुई है। भारतीय काव्य-शास्त्र
परम्परा को हम व्यापक रूप से उपयोगितावादी और रीतिवादी दो धारा
में बांट सकते हैं।[1] उपयोगितावादी धारा के अन्तर्गत हम रस, ध्वनि औ

---

१. मैंने अपने निबंध 'आलोचना के मान' (पृष्ठ ३३) में प्रकृति
जीवन और सत्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति का परिणाम बताते हुए लिखा थ
कि "साहित्य के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखें तो हम सारे साहित्य को दो
परस्पर-विरोधी—यथार्थवाद (रीयलिज़्म) और स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टि-
सिज़्म) की धाराओं में बांट सकते हैं।...व्यापक अर्थ में यथार्थवाद
और स्वच्छन्दतावाद की धाराएं मानव-चेतना की उस 'द्वि-रूपता' की
सूचना देती हैं, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के
नाम से अभिहित किया है।...ये दोनों दृष्टियां मनुष्य की एक ही अनुभूति-
प्रवण चेतना की परस्पर-पूरक स्थितियां हैं..." मैंने फिर (पृष्ठ ३७-८)
आलोचना के इतिहास पर इसी विचार को लागू करते हुए लिखा कि
"...मूलतः उनकी (आलोचकों की) रसग्राही चेतना भी तो उनकी अपनी
अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से ही नियंत्रित होती है। इसलिए आलो-
चना में आरंभ से ही उपयोगितावाद और रीतिवाद (रूपवाद) की धाराएं
रही हैं। साहित्य के जितने भी वाद और सिद्धान्त हैं, सूक्ष्म भेदों के बावजूद
इन्हीं दोनों में से किसी एक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उपयोगितावादी
सिद्धान्त साहित्य के सामाजिक-आध्यात्मिक प्रयोजन और उसकी विषय-
वस्तु पर अधिक ज़ोर देते आये हैं; रीतिवादी (रूपवादी) सिद्धान्त साहित्य
के बाह्य सौन्दर्य-पक्ष और रूप-तत्त्व पर अधिक ज़ोर देते आये हैं।...

औचित्य के काव्य-सिद्धान्तों को रख सकते हैं और रीतिवादी धारा के अन्तर्गत अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के सिद्धान्त आते हैं। हम पहले

साहित्य-तत्त्व को समझने की ये दोनों दृष्टियाँ एकांगी हैं, किन्तु व्यापक अर्थ में एक-दूसरे की पूरक भी हैं।"

इस लम्बे उद्धरण का अभिप्राय केवल इतना है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र में इन दोनों परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जो मुख्य छः सिद्धान्त इस दीर्घ ऐतिहासिक परम्परा में विकसित हुए हैं, उनमें से तीन (रस, ध्वनि और औचित्य) व्यापक अर्थ में उपयोगितावादी सिद्धान्त हैं, और साहित्य के सामाजिक-आध्यात्मिक प्रयोजन और उसके अर्थ (भाव-विचार-वस्तु) पर अधिक ज़ोर देते हैं, और बाकी तीन (अलंकार, रीति और वक्रोक्ति) सिद्धान्त व्यापक अर्थ में रीतिवादी हैं और शब्द-प्रयोग और रूप-तत्त्व पर अधिक ज़ोर देते हैं। इसलिए समग्र भारतीय साहित्य-शास्त्र को इन दो बड़े वर्गों में बाँटकर अध्ययन करना और उनके अन्तःसंबंधों को उद्‌घाटित करते हुए उनकी स्थायी उपलब्धियों का निर्देश करना सर्वथा संभव है। भारतीय काव्य-शास्त्र की भाषा में हम उन्हें वर्णनावादी और वर्ण्यवादी सिद्धान्त भी पुकार सकते हैं या आचार्य कुन्तक के अनुसार उन्हें अलंकार और अलंकार्य के सम्प्रदाय कह सकते हैं। कहा जा सकता है कि "अलंकार्य के सम्प्रदाय आचार्यों की अन्तर्मुखी विवेचना के परिणाम हैं और अलंकार के सम्प्रदाय बहिर्मुखी विवेचना के।" श्री शंकरदेव शिवतरे ने अपने एक निबंध में उन कारणों और कार्यों की व्याख्या करते हुए, जिनके आधार पर दोनों प्रकार के सम्प्रदाय एक-दूसरे से भिन्न हैं और उनकी मान्यताओं से जो परिणाम निकलते हैं, कुछ दिलचस्प तथ्यों को बड़े व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। रस-सिद्धान्त में रस साध्य है, बाकी सब-कुछ साधन, यानी रस अलंकार्य और बाकी सभी कुछ अलंकार। ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस के साथ वस्तु और अलंकार की व्यंग्यता भी स्वीकार की और परवर्ती रसवादियों ने ध्वनि के इस व्यंग्यत्रयी अलंकार्य को आत्म-स्थानीय

२

उपयोगितावादी साहित्य-सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का विवेचन करेंगे, फिर रीतिवादी सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का। इस विवेचन में समग्र रूप से

मानकर रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया। औचित्य को अलंकार्य माननेवाले क्षेमेन्द्र ने सिद्ध-रस के उत्कर्ष के लिए औचित्य की अनिवार्यता पर ज़ोर देकर अप्रत्यक्ष रूप से रस को ही अलंकार्य सिद्ध किया। इसके विपरीत शुद्धालंकार, रीति (गुण) और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-वर्ग में आते हैं। शुद्धालंकार-सम्प्रदाय अलंकार के बिना काव्य की सत्ता नहीं मानता, रीति और गुण-सम्प्रदाय शब्दार्थ को काव्य-शरीर और गुण-विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा मानता है; वक्रोक्ति-सम्प्रदाय में शब्दार्थ काव्य का शरीर और वक्रोक्ति उसका जीवितम् (आत्मा) है, फिर भी साहित्य के विवेचन में इस दृष्टि-भेद से कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ता। एक ही पद्य को अपनी-अपनी दृष्टि से सभी सराहते हैं, कोई रसपूर्णता के लिए, कोई व्यंग्यार्थ के लिए, कोई औचित्य के लिए, कोई अलंकार-सज्जा के लिए, कोई माधुर्य, ओज और प्रसाद (कान्ति, दीप्ति और व्याप्ति) गुणों से संपन्न विशिष्ट पद-रचना के लिए तो कोई वक्रोक्ति-चमत्कार के लिए। लेकिन इस परिणाम में स्थूल समानता ही है। मेघदूत या शाकुन्तला को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से श्रेष्ठ कृतियां साबित कर देने का यह तात्पर्य नहीं कि इन दृष्टिकोणों से उत्पन्न मान्यताओं में भी कोई आन्तरिक संगति या साम्य है। अलंकार और अलंकार्य के इन विरोधी सम्प्रदायों की कार्य-व्याख्या करते हुए शंकरदेव शिवतरे ने इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि दोनों वर्ग के सभी सम्प्रदायों का "प्रस्थान-बिन्दु एक है। अर्थात् सभी *शब्दार्थ से यात्रा आरंभ करते हैं। पर विश्रान्ति-बिन्दु सब का एक ही नहीं है। अलंकार के तीनों सम्प्रदाय शब्दार्थ से चलते हैं और रसभावादि से परिचय करके फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आते हैं।...किन्तु अलंकार्य के तीनों सम्प्रदाय चलते तो शब्दार्थ से ही हैं, पर पुनः शब्दार्थ की ओर नहीं लौटते; वे आगे रसभावादि में विश्रान्त हो जाते हैं।"*

काल-क्रमानुसार इतिवृत्त तो नहीं मिलेगा, लेकिन विभिन्न साहित्य-सिद्धान्तों और उनके ऐतिहासिक विकास को समझने में आसानी होगी, और इस प्रकार हम भारतीय आलोचना की उपलब्धियों का व्यापक रूप में मूल्यांकन कर सकेंगे।

भारतीय काव्य-शास्त्र की दोनों विरोधी धाराओं को अलंकार और अलंकार्य के नाम से अभिहित न करके हम उन्हें उपयोगितावाद और रीति-वाद की धाराएं ही कहेंगे। संभव है कि रस, ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्तों को 'उपयोगितावादी' पुकारने में कुछ विद्वानों को आपत्ति हो। उपयोगितावाद में कुछ लौकिकता और भौतिकवाद की ध्वनि उनको मिलेगी। लेकिन रस, ध्वनि और औचित्य के प्रवर्तकों ने अपनी भाववादी (ideaist) दार्शनिक मान्यताओं के बावजूद साहित्य के सामाजिक-नैतिक और ज्ञानात्मक प्रयोजन को व्यक्ति-भावक की आनन्दस्वरूप रसानुभूति से कभी अलग करके नहीं देखा, बल्कि उन्होंने साहित्य के इन तीनों मूल्यों को समन्वित रूप में सामने रखा। रसानुभूति उनके निकट प्रेषण की एक व्यापक प्रक्रिया है, जो आनन्द की अनुभूति के साथ अखिल चराचर जगत से मनुष्य (भावक) के समन्वित संबंध को व्यक्त करती है, और उसके सत्य-ज्ञान को भी बढ़ाती है। हमारे यहां रसानुभूति को एक घोर व्यक्तिवादी पाठक या दर्शक की ऐसी आत्म-तृप्ति नहीं माना गया, जो उसकी अ-सामाजिक (या मानवद्रोही) प्रवृत्तियों को परितोष प्रदान करती हो। रसानुभूति का माध्यम वैयक्तिक है, किन्तु उससे प्राप्त आनन्द का स्वरूप सामाजिक है। इसी लिए हमारे यहां रसिक को 'सहृदय' या 'सामाजिक' पुकारने की प्रथा थी। यहां पर यह भी दृष्टव्य है कि उप-योगितावाद का साहित्य की यथार्थवादी और दर्शन की अ-भाववादी (भौतिकवादी) धाराओं से सीधा समीकरण कर देना संकीर्णता और यान्त्रिकता का परिचय देना होगा। रस, ध्वनि और औचित्य की वृत्तियों की पृष्ठभूमि सांख्य और शैव-मत-जैसे भाववादी दर्शन

आलोचना के सिद्धान्त

प्रकट होते हैं, उसी प्रकार नाट्य-प्रयोग द्वारा (कला-निर्मिति से) काव्यार्थ-गत नाट्य-रस (शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स और क्रमशः उनके सहचर हास्य, करुण, अद्भुत, वीभत्स) अव्यक्त और बीज-रूप अवस्था में से प्रकट होकर साकार और मूर्त बनते हैं, यानी सर्वप्रत्ययकारी रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कि रस से भाव पैदा होते हैं या भाव से रस, भरतमुनि ने कहा है कि "भावों से रसों की निष्पत्ति दीखती है, रसों से भावों की नहीं।" मतलब यह कि नाट्य-प्रयोग (कला-कृति) में अन्य भावों के संयोग से स्थायी भावों की जो यह सर्वप्रत्ययकारी मूर्त कलात्मक परिणति होती है, उसे ही भरत ने रस की संज्ञा दी है। इस प्रसंग में भरतमुनि ने कहा भी है कि "रस भावहीन नहीं होता, भाव रसहीन नहीं हुआ करता। अभिनय में उसकी परस्पर-सिद्धि होती है। व्यंजन और औषधि का संयोग जैसे अन्न को सुस्वादु बना देता है, भाव और रस भी वैसे ही एक दूसरे को भावित करते हैं।" (नाट्यशास्त्र ६।३६।३७) इस परम्परित का सीधा-सादा अर्थ यह है कि नाट्य (या कला-कृति) में कवि के जिन आन्तरिक भावों और मन्तव्यों की साकार, सर्वप्रत्ययकारी रस-रूप में परिणति होती है, वह रस आस्वाद्य होने के कारण प्रेक्षक (या पाठक) के मन में भी उन भावों को जाग्रत कर देते हैं। रस की व्याख्या करते हुए भरतमुनि ने कहा कि "रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव, इन तीनों के संयोग से रस निष्पन्न होता है।" यह प्रसिद्ध सूत्र रस-सिद्धान्त का मूलाधार है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव, इन तीन नाट्य-घटकों के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है, इतना तो स्पष्ट है। लेकिन 'संयोग' से भरतमुनि का क्या तात्पर्य था, यह संयोग क्या और कैसी प्रक्रिया है और इससे भी अधिक रस की 'निष्पत्ति' से क्या मतलब है? रस की निष्पत्ति किसमें होती है? विभावादि (नटों) में, नाट्य में, या प्रेक्षकों में? संयोग और निष्पत्ति इन दो गूढ़ शब्दों में छिपे भरतमुनि के वास्तविक अभिप्राय की ऊहापोह में रस-सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्य

हैं—रोमांच, स्वरभेद, कम्प, स्तम्भ, स्वेद, विवर्ण्य, अश्रु, प्रलय। लोकधर्मी मनःस्थितियों से इनमें समानता अवश्य है, लेकिन ये सारे भाव नाट्य-धर्मी हैं, अतः नाट्य में ही प्रभावी होते हैं। विभाव (वाणी, अंग, सत्व, अभिनय जिनसे भावित होते हैं, जो काव्यार्थ को सर्वप्रत्ययकारी रूप में परिणत करने में कारण, निमित्त या हेतु होते हैं, अर्थात अभिनेतादि), अनुभाव (वाणी, अंग, सत्व द्वारा सम्पादित, नानार्थों से निष्पन्न अभिनय को अनुभावित करनेवाले रोमांच, कम्प आदि सात्विक भाव) तथा व्यभिचारी या संचारीभाव (वाणी अंग और सत्व द्वारा सम्पादित शारीरिक, ज्ञानात्मक तथा भावनात्मक कार्य-व्यापार) इनके संयोग (मिश्रण) से रस प्रकट होते हैं, यानी वह कीमिया होती है, जो नाट्य-वस्तु को सर्वप्रत्ययकारी या आधुनिक भाषा में कहें तो 'मूर्त कला-सृष्टि' बना देती है। यह रस-सृष्टि (या कला-सृष्टि) सत्य-सृष्टि के समानान्तर होती है। इस प्रकार भरत-मुनि का 'नाट्य शास्त्र' मूलतः कला-निर्मिति की प्रक्रिया का स्वरूप निर्दिष्ट करनेवाला शास्त्र है।

आलोचना कला-कृति की ही होती है, लेकिन कला-कृति क्या चीज है, कला-निर्मिति कैसे होती है, ये प्रश्न आलोचना के बुनियादी प्रश्न हैं। नाट्य-स्वरूप को विशद करने के माध्यम से भरत ने ऐसे सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों की उद्भावना की जो अन्य कला-माध्यमों पर भी अवान्तर से लागू होते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने नाट्य में द्वन्द्व-मूलक आठ ही रस माने, क्योंकि जो आठ स्थायीभाव आठ रसों के आश्रय हैं, उनमें प्राचीन युगों का देवासुर-द्वन्द्व स्थित है, लेकिन पर्याय से सत् और असत्, प्रगति और प्रतिक्रिया, नये और पुराने का संघर्ष न केवल त्रिकालवर्ती है, बल्कि सभी कलाओं में वह युग-युगान्तर से प्रतिबिम्बित होता आया है और होता रहेगा—इसलिए यह आठ रस और उनको उत्पन्न करनेवाले आठ स्थायीभाव भी केवल नाट्य-सृष्टि में ही नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार की कला-सृष्टि के साध्य और साधन बने रहेंगे, चाहे अब नाट्य या कला का विषय सामान्य-गुणी, व्यक्ति-निरपेक्ष न होकर व्यक्ति-मन के विचारों को ही अभिव्यक्ति

सदियों तक लगे रहे और अपने विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से इन शब्दों की व्याख्या करते रहे। अधिकतर परवर्ती आचार्यों ने 'निष्पत्ति' का अर्थ नाट्य को देखकर प्रेक्षक के मन में होनेवाली रसानुभूति ही लगाया और इस संबंध में उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद आदि अनेक मत प्रतिपादित हुए और रसानुभूति के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया की गंभीर, वैज्ञानिक छानबीन की गई।

भरतमुनि के अनुसार वाणी, अंग और सत्व (मन का तन्मय हुआ, अविकृत रूप) से सम्पादित अभिनय 'लोक स्वभावोपगत' अर्थात् लोकस्वभाव का अनुकरण तो करता है, किन्तु होता नाट्य-धर्मी है। और इस अभिनय से रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग का ही परिणाम है। भाव का अर्थ भरतमुनि के यहाँ साधारण लोकधर्मी मनोविकार (emotions) नहीं है, बल्कि वाणी, अंग, सत्व से मिले हुए काव्यार्थों को भावित करनेवाले कारण-साधन ही उनके अनुसार भाव हैं। इस प्रकार भाव कार्य-प्रवृत्त होनेवाली वस्तु की अंगभूत शक्ति हैं। शक्तिस्वरूप होने के कारण ये किसी अन्य प्रभावी शक्ति के परिणाम नहीं होते, बल्कि स्वयं प्रभावी होने के कारण काव्यार्थों को भावित करके शक्तिशाली बनाते हैं। भरतमुनि ने भावों की संख्या उनचास बतायी है—आठ रसों के आठ स्थायीभाव (आदि से अंत तक साथ रहनेवाले) हैं—(शृंगार का) रति, (हास्य का) हास, (करुण का) शोक, (रौद्र का) क्रोध, (वीर का) उत्साह, (भयानक का) भय, (वीभत्स का) जुगुप्सा, (अद्भुत का) विस्मय। इनके अतिरिक्त तेंतीस व्यभिचारी भाव हैं—(१) जिनमें चौदह शारीरिक अवस्थाओं के समानान्तर हैं—मरण, व्याधि, ग्लानि, श्रम, आलस्य, निद्रा, स्वप्न, अपस्मार, उन्माद, मद, मोह, जड़ता, चपलता; (२) तीन ज्ञानात्मक मनोवस्थाओं के समानान्तर हैं—स्मृति, मति और वितर्क और (३) सोलह भावनात्मक मनोवस्थाओं के समानान्तर हैं—हर्ष, अमर्ष, धृति, उग्रता, आवेग, विषाद, निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता, शंका, असूया, त्रास, गर्व, दैन्य, अवहित्थ और व्रीड़ा। बाकी आठ सात्विक भाव

हैं—रोमांच, स्वरभेद, कम्प, स्तम्भ, स्वेद, विवर्ण्य, अश्रु, प्रलय। लोकधर्मी मनःस्थितियों से इनमें समानता अवश्य है, लेकिन ये सारे भाव नाट्य-धर्मी हैं, अतः नाट्य में ही प्रभावी होते हैं। विभाव (वाणी, अंग, सत्व, अभिनय जिनसे भावित होते हैं, जो काव्यार्थ को सर्वप्रत्ययकारी रूप में परिणत करने में कारण, निमित्त या हेतु होते हैं, अर्थात अभिनेतादि), अनुभाव (वाणी, अंग, सत्व द्वारा सम्पादित, नानार्थों से निष्पन्न अभिनय को अनुभावित करनेवाले रोमांच, कम्प आदि सात्विक भाव) तथा व्यभिचारी या संचारीभाव (वाणी अंग और सत्व द्वारा सम्पादित शारीरिक, ज्ञानात्मक तथा भावनात्मक कार्य-व्यापार) इनके संयोग (मिश्रण) से रस प्रकट होते हैं, यानी वह कीमिया होती है, जो नाट्य-वस्तु को सर्वप्रत्ययकारी या आधुनिक भाषा में कहें तो 'मूर्त कला-सृष्टि' बना देती है। यह रस-सृष्टि (या कला-सृष्टि) सत्य-सृष्टि के समानान्तर होती है। इस प्रकार भरत-मुनि का 'नाट्य शास्त्र' मूलतः कला-निर्मिति की प्रक्रिया का स्वरूप निर्दिष्ट करनेवाला शास्त्र है।

आलोचना कला-कृति की ही होती है, लेकिन कला-कृति क्या चीज है, कला-निर्मिति कैसे होती है, ये प्रश्न आलोचना के बुनियादी प्रश्न हैं। नाट्य-स्वरूप को विशद करने के माध्यम से भरत ने ऐसे सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों की उद्भावना की जो अन्य कला-माध्यमों पर भी अवान्तर से लागू होते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने नाट्य में द्वन्द्व-मूलक आठ ही रस माने, क्योंकि जो आठ स्थायीभाव आठ रसों के आश्रय हैं, उनमें प्राचीन युगों का देवासुर-द्वन्द्व स्थित है, लेकिन पर्याय से सत् और असत्, प्रगति और प्रतिक्रिया, नये और पुराने का संघर्ष न केवल त्रिकालवर्ती है, बल्कि सभी कलाओं में वह युग-युगान्तर से प्रतिबिम्बित होता आया है और होता रहेगा—इसलिए यह आठ रस और उनको उत्पन्न करनेवाले आठ स्थायीभाव भी केवल नाट्य-सृष्टि में ही नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार की कला-सृष्टि के साध्य और साधन बने रहेंगे, चाहे अब नाट्य या कला का विषय सामान्य-गुणी, व्यक्ति-निरपेक्ष न होकर व्यक्ति-मन के विकारों को ही अभिव्यक्ति

देने तक सीमित हो गया हो, क्योंकि इन प्रवृत्तियों का द्वन्द्व मनुष्य के अन
बाह्य समग्र जीवन में व्याप्त है। इसलिए जो कहते हैं कि भारतीय क
(नाट्य) में युद्ध या संघर्ष को प्रमुखता नहीं दी गई, वे भूल जाते हैं
देवासुर-कथा में युद्ध या संघर्ष केवल प्रेरक शक्ति ही नहीं है, बल्कि र
सृष्टि (कला-निर्मिति) का एक अनिवार्य, 'प्राणभूत' तत्त्व भी है। इ
आठ रसों में भी भरतमुनि ने चार को ही मुख्य माना—शृंगार और उसत
विरोधी रौद्र; वीर और उसका विरोधी वीभत्स। समग्र जीवन का संघ
मनुष्य की इन परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में प्रतिबिम्बित होता है। इनसे
चार रस और उत्पन्न होते हैं, जो इनके सहचर हैं, यानी इन मूल-रसों के
उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इस प्रकार रस-संख्या का आधार जीवन की
द्वन्द्वमूलकता है। इसी तरह 'विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के संयोग
से रस की निष्पत्ति होती है', इस सूत्र में भी कला-निर्मिति का एक सार्वभौम
नियम अनुस्यूत है। प्रश्न है कि काव्यार्थों में (नाट्य-कथा के विषयों में)
बीज-रूप अव्यक्त रस कैसे व्यक्त हों, कैसे सर्वप्रत्ययकारी, साकार रूप
धारण करें? भरत ने अपने सूत्र में विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के संयोग
से घटित होनेवाली कीमिया का निर्देश किया है। भरतमुनि के अनुसार
यह कीमिया कैसे सम्पन्न होती है, इसका विवरण डि० के० बेडेकर ने इस
प्रकार दिया है—नाट्य में "इन काव्यार्थों के रस-बीजों को व्यंजित करने की
प्रक्रिया शुरू होती है। इस प्रयोग में विभाव, अनुभाव, अभिनय आदि से
रति, हास्य, क्रोध, ग्लानि, मरण, स्तम्भ, रोमांच आदि 'भाव'-संज्ञक
'पदार्थ' निर्माण होते हैं। काव्यार्थ के ये 'भाव' शक्ति-रूप होने के कारण
नाट्य में एक शक्ति संचारित होती है। इस शक्ति का संचार होते हुए,
अन्य सब भावों में से शक्ति इकट्ठी होती जाती है और वह आकर
'स्थायीभावों' की शक्ति से केन्द्रित होती है। यह शक्ति केन्द्रित होते-
होते अन्त में एक कीमिया होती है। वह यों है कि शक्ति-रूप स्थायी-
भावों को रसत्व प्राप्त होता है और अब तक काव्यार्थ में अव्यक्त भरे
हुए नाट्य-रस नाट्य के शरीर में एकदम व्यक्त हो जाते हैं। लकड़ी

मे सुप्त अग्नि को लकड़ी की ओखली मे दूसरी लकड़ी की मथानी घुमाने से व्यक्त किया जा सकता है, ऐसा प्राचीन काल में मानते थे और यज्ञ-क्रिया के लिए ऐसी सिद्ध अग्नि ही काम में लाते थे। यानी लकड़ी मे अव्यक्त अग्नि रहती है, यह बात प्रत्यक्ष प्रयोग से सिद्ध हो जाने-जैसी उन्हे लगती थी। उसी तरह से नाट्य-रस की अभिव्यंजना की बात है।

"काव्यार्थ मे पहले सिर्फ चेहरा रंगे हुए नट होते हैं, परन्तु उनके अभिनयादि से उनके आस-पास 'भाव' उत्पन्न होते है और अन्त में तो काव्यार्थ का आरंभिक रूप बदलकर शृंगारादि रसो का मूर्तिमान रूप ही काव्यार्थ है, ऐसा अनुभव होता है। यानी जो आरंभ मे मामूली अभिनेता रंगमंच पर आता है, वही नाट्य के अन्त मे राम या रावण हो जाता है। यानी उत्साह, क्रोध इत्यादि भावो का इतना परिपोषण नाट्य में होता है कि उत्साह का आश्रय-स्थान, नाट्य-धर्मी राम वीर-रस की जीवन्त मूर्ति बन जाता है। लकड़ी में सुप्त अग्नि मंथन-प्रयोग से व्यक्त होता है और उस लकड़ी को ही व्याप्त कर लेता है। यह उपमा भरत ने नाट्य की दी है। यह कितनी सार्थक है, यह आज सहज समझ में आती है। क्योंकि काव्यार्थों मे सुप्त नाट्य-रस नाट्य-प्रयोग से भाव-शक्ति रूप होते है और रस-रूप बनकर काव्यार्थ को यानी, पर्याय मे नाट्य-शरीर को ही व्याप्त कर लेते हैं। ऐसा यह रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त है।"[1]

यह सहज ही अनुमेय है कि भाषा, माध्यम और शिल्प के अवान्तर मे अनेक घटकों के संयोग द्वारा कला-निर्मिति की प्रक्रिया सम्पन्न होने का यह सिद्धान्त अन्य ललित कलाओं पर भी लागू होता है। चाहे नाट्य की तरह उसकी संघटना देश-काल-अविरत विस्तार मे होती हो, चाहे संगीत की तरह केवल काल-विस्तार मे या मूर्ति और चित्र

---

१. देखिए 'आलोचना', ४ अंक में दि० के० बेडेकर का निबंध—'रस-सिद्धान्त का स्वरूप', पृष्ठ ८५।

की तरह केवल देश-विस्तार में। उनकी कलात्मक परिणति या निर्मिति एक संयोग—प्रक्रिया, कीमिया का ही परिणाम होती है—रस या रूप-सृष्टि का परिणाम।

यह 'कार्य का अनुकरण' वाले अरस्तू के सिद्धान्त से अधिक संश्लिष्ट और व्यापक सिद्धान्त है, क्योंकि इसके अनुसार विभिन्न तथा विरोधी रसों के पोषक नाट्य-धर्मी पदार्थों (या कला-धर्मी पदार्थों) की द्वन्द्वात्मक अन्विति से ही कला-सृष्टि की अवधारणा की गई है। इसके अलावा भरत-मुनि ने विभिन्न भावों का रस में विनियोग समझाते हुए स्पष्ट निर्देश किया है कि "जो ये विविध अभिनयों में आश्रित सात्विक भाव हुआ करते हैं, नाटकों के प्रयोक्तागण उनका सब रसों में प्रयोग करें। कोई भी काव्य प्रयोग में एक रसवाला नहीं हो सकता, चाहे भाव हो, या रस हो, प्रवृत्ति या वृत्ति भी हो। सभी समवेत रसों में जिसका रूप अधिक रहा हो, उस रस को स्थायी समझो, शेष रसों को व्यभिचारी।. . . विचित्रता विरक्ति नहीं देती, विचित्र वस्तु दुर्लभ हुआ करती है। विचित्र वस्तुओं का विमर्द (मिश्रण) यदि प्रयत्न से प्रयुक्त हो तो मनोरंजक होता है।" इस वक्तव्य से यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि हर कला-कृति अनेक अर्थों, अनेक रसों और अनेक भावों को व्यक्त करनेवाली एक संश्लिष्ट इकाई होती है, तभी वह सत्य-सृष्टि के समानान्तर बनती है।

भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' मुख्यतः नाट्य-प्रयोग में रसों की सृष्टि यानी कला-निर्मिति की प्रक्रिया से ही संबंध रखता है। इस प्रक्रिया में जब शक्ति-रूप 'भाव' निर्मित होने लगते हैं उस समय कवि, नट और प्रेक्षक में द्वैत नहीं रह जाता, वे एकत्व प्राप्त कर लेते हैं, भरतमुनि का कुछ ऐसा विचार है, क्योंकि इस एकत्व से सिद्ध नाट्य में उसके समग्र शरीर को व्यापने-वाला रसोद्भव होता है। अतः प्रेक्षक की नाट्य में पृथक सत्ता नहीं रहती। 'भावों' में अग्नि की तरह अनुप्रवेश करने की शक्ति है, इसलिए प्रेक्षक भी नाट्य-शरीर को व्यापनेवाले रस का आस्वाद करते हैं। नाट्य में रस-निष्पत्ति हो जाने पर रसास्वाद की प्रक्रिया आरंभ होती है—भरतमुनि की

दृष्टि में वह रस-निर्मिति की प्रक्रिया से भिन्न है। रसास्वाद की प्रक्रिया का संबंध केवल सामाजिक से है। भरतमुनि ने अन्य ऋषियों के प्रश्न के उत्तर में कि 'यह रस क्या पदार्थ है?' कहा कि "रस आस्वाद्य पदार्थ है" (आस्वाद्यत्वात्)। फिर इस प्रश्न के उत्तर में कि 'रस का आस्वाद कैसे किया जाता है?' उन्होंने कहा कि "जैसे सहृदय लोग भाँति-भाँति के व्यंजनों से पके हुए अन्न को खाते हुए रसों का स्वाद प्राप्त करते हैं और प्रसन्न भी होते हैं, वैसे ही दर्शक लोग नाना भावों के अभिनय (नाट्य) में व्यंजित तथा वाणी, अंग और सत्व से मिले हुए स्थायीभावों का (मन से) आस्वाद प्राप्त करते हैं।" इस प्रकार भरतमुनि ने आस्वाद और आस्वाद्यत्व में भेद किया। रस वे जिनका आस्वाद किया जा सकता है। रस आनन्द नहीं है, क्योंकि आनन्द आस्वाद के बाद की अवस्था है। भरत मुनि के इस सूत्र से कि "रस के बिना अर्थ को प्रवर्तित नहीं किया जा सकता" स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में कला-निर्मिति का सामान्य उद्देश्य अर्थ (कवि के मन का विषय=नाट्य-वस्तु) का प्रवर्तन करना (प्रेक्षक के मन का विषय बनाना) ही था, जो कि रस के बिना नाट्य में संभव नहीं है, जिस तरह काव्य में शब्द और चित्र में रूप के बिना अर्थ का प्रवर्तन संभव नहीं है। विविध कलाओं के ये विविध अर्थ-प्रवर्तनकारी पदार्थ सामाजिक के लिए मन से आस्वाद्य होते है। भरतमुनि ने 'नाट्य-कला की निर्माता' 'निर्मिति का स्वरूप' और 'स्थायी भावों का आस्वाद', इस अवस्थात्मक योजना में 'रस' की निष्पत्ति का संबंध केवल दूसरी अवस्था में ही माना है, तीसरी आस्वाद करने की अवस्था से नहीं माना। उनके निकट आस्वाद केवल अर्थ-प्रवर्तन की प्रक्रिया है, जो दर्शक में होती है। अर्थ-प्रवर्तन होने पर (रसास्वाद कर लेने पर) दर्शक 'प्रसन्न भी होते हैं', भरतमुनि की यह मान्यता है। यह प्रसन्नता या आनन्द रसास्वाद या अर्थ-प्रवर्तन का अनिवार्य परिणाम या सहचर हो सकता है, किन्तु भरतमुनि की अवस्थात्मक नाट्य-कला में वह उसका पर्याय या स्थानापन्न नहीं है। अरस्तू ने दर्शक में 'त्रास और करुणा' की भावनाओं के 'विरेचन' (catharsis) की

जो भाव नहीं है, वह भी रस-सृष्टि या अर्थ-प्रवर्तन के बाद की अवस्था है उसका परिणाम या सहचर है।

भरतमुनि के बाद ही, नाट्य-शास्त्र के भाष्यकारों ने कला-निर्मिति की समस्या को आनुषंगिक मानकर और उसके बाद की रसास्वाद की प्रक्रिया और इस आस्वाद से प्राप्त होनेवाले परिणाम 'आनन्द' की छान-बीन शुरू कर दी। भावक में रसास्वाद की प्रक्रिया और उससे उत्पन्न आनन्द के स्वरूप की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक गवेषणा आरंभ हुई। आचार्य अभिनवगुप्त (दसवीं शती) ने रस को आस्वाद-रूप मान करके रस-सिद्धान्त को आनन्द या आस्वाद का सिद्धान्त बना दिया और इस प्रकार रस का मूल अर्थ ही बदल गया। उनके पश्चात् मम्मट (ग्यारहवीं शती) और विश्वनाथ (चौदहवीं शती) ने भी इस मत की पुष्टि की। उदाहरण के लिए विश्वनाथ का यह मत कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' (रसात्मक वाक्य ही काव्य है) में पाठक या श्रोता के मन पर पड़नेवाले प्रभाव को ही स्थान-भेद से काव्य का लक्षण मान लिया गया है। ऐसा ही पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शती) की परिभाषा—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—(रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले शब्द को काव्य कहते हैं) में भी लक्षित है। इस प्रकार रस को आस्वाद का पदार्थ नहीं, बल्कि स्वयं आनन्द-रूप आस्वाद मानकर प्राचीन भारतीय आलोचना में रस-सम्प्रदाय का उदय हुआ। रस स्वतंत्र रूप से गंभीर दार्शनिक चिन्तन का विषय बन गया। रस-चिन्तन दर्शक या पाठक के भावन-व्यापार की मनोवैज्ञानिक छान-बीन तक ही सीमित हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि भरतमुनि के व्यापक मन्तव्य को सीमित और संकीर्ण बना देने के बावजूद रस-सम्प्रदाय के आचार्यों के तत्त्व-चिन्तन में अनेक गंभीर और वैज्ञानिक उद्भावनाएं हमें मिलती हैं, विशेषकर भावक (पाठक या दर्शक) के मन पर कलाकृति के प्रभाव की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया क्या और कैसी होती है, इसका सूक्ष्म विवेचन विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से परवर्ती आचार्यों ने किया है, जो अपने-आपमें

आत्यन्तिक महत्व रखता है, यद्यपि इस विवेचन मे एकांगिता का होना स्वाभाविक है।

भट्टलोल्लट

भरत-सूत्र के प्रथम व्याख्याकार काश्मीर के भट्टलोल्लट (आठवीं शती) हैं। उन्होंने मीमांसा-दर्शन के 'आरोपवाद' का भरत-सूत्र पर आरोप करते हुए कहा कि "रस मुख्य रूप से तो रामादि अनुकार्य मे रहता है" और सामाजिक "नट में वास्तविक अनुकार्य रामादि का अनुसंधान (आरोप) करके चमत्कृत होता है।" भट्टलोल्लट ने 'संयोग' का अर्थ संबंध और 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति लगाया। भरतमुनि के अभिप्राय को ठीक से समझें तो उनके अनुसार रस-सिद्ध नाट्य में कवि, नट और प्रेक्षक मे द्वैत की स्थिति नहीं रहती। उनमे पूर्ण एकत्व स्थापित हो जाता है। अभिनय, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से विभाव (अभिनेता) शृंगारादि रसों के मूर्तिमान रूप बन जाते हैं, यानी साधारण अभिनेता राम या रावण बन जाता है और इस रूप में ही प्रेक्षक के लिए आस्वाद्य (सम्प्रेष्य या संवेद्य) होता है। लेकिन भट्टलोल्लट ने सामाजिक मे स्थायीभाव की स्थिति मानी ही नहीं और इसी लिए रसास्वादन को उन्होंने अपरागत कहा, और 'अनुसंधान' या 'आरोप' का द्वैत खड़ा करके मीमांसा-दर्शन के अख्यातिवाद की भूमि पर प्रेक्षक द्वारा प्रत्यक्ष और पूर्वानुभूत स्मृति-ज्ञान की मिश्रित प्रतिक्रिया से नट मे वास्तविक अनुकार्य रामादि के अनुसंधान या आरोप की बात कही। यह सही है कि उनकी दृष्टि में यह अनुभव या ज्ञान अ-यथार्थ या भ्रम नहीं होता—कम-से-कम तत्काल के लिए तो वास्तविक ही होता है, लेकिन विभावादि से प्रेक्षक पूरी तरह एकात्म नहीं होता—उसकी अन्तश्चेतना के किसी अज्ञात कोने मे अनुसधान की प्रक्रिया जारी रहती है। दरअसल भट्टलोल्लट ने 'रस' को 'अपरिपुष्ट स्थायी-भाव' मानकर केवल वर्ण्य-वस्तु (aesthetic object) के रूप मे ही विवेचित किया, और रस को विषयगत मानते हुए काव्य-विषय की

महत्ता पर जोर दिया। उनका मत है कि किसी ऐतिहासिक या वास्तवि[illegible] व्यक्ति को ही काव्य में प्रस्तुत करना चाहिए, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों [illegible] रस की सत्ता होने के कारण ही काव्य में रस प्रविष्ट होता है। रस निष्पत्ति-संबंधी भट्टलोल्लट की दूसरी स्थापना 'उत्पत्तिवाद' के नाम [illegible] प्रसिद्ध है। इसके अनुसार स्थायीभाव में विभावादि का संयोग होने [illegible] रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव (नट) प्रेक्षक के चित्त [illegible] स्थायी रहनेवाली वृत्ति की उत्पत्ति के कारण-स्वरूप होते हैं। भरत मुनि ने रसों को 'विभावादि जीवितावधि' बताया था, जो सर्वथा दूसरी ही बात है।

शंकुक

भट्टलोल्लट की इन स्थापनाओं को भ्रामक सिद्ध करने में नैयायि[illegible] शंकुक (नवीं शती) को कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने सबसे पहले रस को विषयीगत अनुभूति (aesthetic experience) की वस्तु माना यह मत उनके बाद के सभी रसवादी आचार्यों को भी मान्य हुआ। शंकुक के अनुसार अभिनेता रामादि का अनुकरण करता है, लेकिन उसके अभिनय कौशल के कारण विभावादि (नट) कृत्रिम होने पर भी सामाजिक को कृत्रिम नहीं लगते। सामाजिक अनुमान के बल से अभिनेता में प्रतिभासमा[illegible] स्थायीभाव को वास्तविक मान लेता है, और तभी उसे रस की अनुभू[illegible] होती है। यह मत भरतमुनि के मन्तव्य को एक सीमा तक संकीर्ण औ[illegible] यांत्रिक भी बना देता है, क्योंकि रस की आस्वादना में ऐसे किसी तर्क-नि[illegible] [illegible] अनुमान का अन्तर्भाव संभव ही नहीं है। भरतमुनि ने नाट्[illegible] में रस की निष्पत्ति बताकर उसे पहले विषयगत सिद्ध किया जो आस्वा[illegible] होने के कारण विषयीगत भी बनता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में र[illegible] वस्तु-सृष्टि की तरह विषयगत भी है और विषयीगत भी—एक मनोवि[illegible] सम्मत प्रक्रिया का परिणाम। भट्टलोल्लट ने रस को केवल विषयग[illegible] माना और शंकुक ने केवल विषयीगत, प्रेक्षक का अनुमित ज्ञान, [illegible]

रसानुभूति की प्रक्रिया में तीन शक्तियाँ काम करती हैं—अभिधा, भावक तथा भोजकत्व। अभिधा से सामाजिक को शब्दार्थ का ज्ञान होता और नाट्य-प्रसंगों की विशिष्टता का बोध होता है। भावकत्व व्यापा से विभावादि का साधारणीकरण होता है और भावों की पात्र-विशिष्ट का लोप हो जाता है, और सामाजिक की मनोवृत्ति भी निर्वैयक्तिक हो लगती है, जिससे रसास्वादन में बाधा-स्वरूप सामाजिक की व्यक्तिग भावना का प्रतिबंध टूट जाता है। भावकत्व की स्थिति में विभावादि के साधारणीकृत हो जाने से सामाजिक के हृदय में तमस् और रजस् की वृत्तिय का शमन करके 'सत्त्वोद्रेक' होता है और वह भोजकत्व की स्थिति में पहुंच कर सत्वोद्रेक से उत्पन्न प्रकाश-आनन्दस्वरूप आत्मज्ञान का परमब्रह्म के आस्वाद के समान रस-रूप में भोग करता है। भट्टनायक ध्वनि-विरोधी आचार्य थे, इसलिए उन्होंने आनन्दवर्धन के व्यंजना-व्यापार के विरोध में सांख्य-दर्शन की भूमि पर भावकत्व और भोजकत्व इन दो व्यापारों की अनावश्यक परिकल्पना की। फिर भी रसास्वादन की प्रक्रिया कई अवस्थाओं में से गुजरकर सम्पन्न होती है, इसका संकेत करके उन्होंने परवर्ती रसाचार्यों को मनोवैज्ञानिक विवेचन की एक नयी दिशा दिखायी। इसके अतिरिक्त रसानुभूति के मार्ग में बाधक सामाजिक की व्यक्तिगत मनोवृत्तियों के अवरोधों का निराकरण कैसे होता है, इस बारे में साधारणीकरण-संबंधी, संभवतः पूर्व-प्रचलित, किन्तु अविकसित विचार को परिमार्जित करके रसोद्-बोधन की प्रक्रिया में एक अनिवार्य व्यापार के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भट्टनायक को ही है। उनके पश्चात् भट्टतौत ने इस स्थापना का और विकास करते हुए कहा कि 'रस की पूर्ण स्थिति में कवि, नायक तथा सहृदय तीनों का साधारणीकरण होता है तथा तीनों का रस समान कोटि का होता है।'

अभिनवगुप्त

भरतमुनि के पश्चात् रस-सिद्धान्त के सबसे महान और महत्वपूर्ण आचार्य हैं अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शती)। उन्होंने शैव-दर्शन

की भूमि पर भट्टनायक की 'भुक्तिवाद' और 'साधारणीकरण'-संबंधी स्थापनाओं को तात्विक और मनोवैज्ञानिक आधार दिया। उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व के निराकार व्यापारों के स्थान पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में व्यंजना की सत्ता स्थापित की। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि 'एकाग्र चित्त, तन्मय सामाजिक में आस्वादकता होती है।' कहने का मतलब यह कि रसानुभूति की दशा विमर्श (स्वतंत्र इच्छा) और निर्विकल्प (अबाध और असीम) दशा है। रति, शोक आदि वासना के व्यापार है और उसी के उद्बोधन के लिए अभिनय आदि किए जाते हैं। वासना के व्यापार से तात्पर्य यह कि सहृदय के हृदय मे रति, शोक आदि स्थायीभाव वासना के रूप में अवस्थित रहते हैं, और अभिनयादि देखकर वे ही व्यंजना-प्रक्रिया से रस-रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार सहृदय अपने ही भावों का निर्वैयक्तिक, तटस्थ रूप मे आस्वादन करके आनन्दित होता है। उनकी दृष्टि में भरत-सूत्र मे 'संयोग' शब्द का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक-भाव-संबंध है और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति या व्यंग्य है। रस की व्यंजना-प्रक्रिया के संबंध मे उनका मत ही सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक और सही माना जाता है। उनके अनुसार सहृदय को रस की प्रतीति चार स्थितियों से गुजरने पर होती है। पहली स्थिति में चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से अभिनय करनेवाले नट दिखायी देते हैं। लेकिन अभिनय और संगीतादि के प्रभाव से सहृदय मे कल्पना उदित होती है और पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्वो को त्यागकर सामान्य रूप में आने लगते हैं। यह दूसरी स्थिति 'आभास' की होती है, जिसमें व्यक्ति-विशेष का बोध तो नहीं रहता, लेकिन सहृदय के मन में 'वह' और 'मैं' का भेद-जन्य द्वैत बना रहता है। इस दूसरी स्थिति के सम्पन्न होने पर सहृदय 'लीन' होने लगता है, और तीसरी अवस्था में पहुंचते ही उसके चित्त में अवस्थित स्थायीभाव न तो उसके रहते हैं, न किसी अन्य से उनका संबंध रह जाता है। विभावादि (नट आदि) के व्यक्तित्व का लोप होते ही वासना-रूप में स्थित सहृदय के स्थायीभाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते हैं और चौथी अवस्था में

जैसी विभाव-अनुभाव-संचारीभावों के संयोग से भरतमुनि के अनुसार नाट्य-प्रयोग (कला-निर्माण) में रस की निष्पत्ति के समय होती है। इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया वास्तव में सहृदय में रसोद्बोधन की प्रक्रिया की ही अन्तिम परिणति है।

मम्मट : विश्वनाथ : जगन्नाथ

इन विवेचनों ने हृदय मे वासना-रूप स्थायीभावों की अवस्थिति सिद्ध करके सहृदय मे रसोद्बोधन और अलौकिक आनन्दस्वरूप रसानुभूति की प्रक्रिया का तो सूक्ष्मतर निरूपण किया, लेकिन काव्य या नाट्य (कला-कृति) का क्या स्वरूप है, मानव-जीवन से उसका क्या संबंध है, कला-निर्मिति की क्या प्रक्रिया है, इन सारे व्यापक प्रश्नों मे, जिनका विवेचन भरतमुनि की रस-व्यवस्था का मुख्य अभिप्राय है (वह केवल नाट्य-प्रयोग का विधि-निर्देश करनेवाली व्यवस्था ही नही है)—रस-सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने विशेष रुचि नही दिखायी। इतना ही नही, सहृदय के भावन-व्यापार पर ही ध्यान केन्द्रित करके उन्होंने नाट्य या काव्य (कला-कृति) को केवल उसके प्रभाव से ही (और वह भी केवल अलौकिक आनन्ददायी रसात्मक प्रभाव डालने की सामर्थ्य से ही) परखने की कसौटियां तैयार कीं। और चूंकि ऐसी सभी कसौटियां अन्ततः व्यक्ति-सापेक्ष होती हैं, इसलिए उनके द्वारा किसी कला-कृति का समग्र और सर्वांगीण रूप से वस्तुपरक मूल्यांकन संभव ही नही रहता। इस तरह रस-चर्चा में कला-कृति तो गौण वस्तु बन गयी और रस-चिन्तन कला-कृति के विवेचन और मूल्यांकन से अलग, स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तन की वस्तु बन गया या रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया (साधारणीकरण) का निरूपण करने तक सीमित हो गया। अभिनवगुप्त के बाद विविध भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों का समन्वय करने की चेष्टा करनेवाले मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ भी भरतमुनि के रस-संबंधी मूल सिद्धान्तों और अभिप्रायों की पुनर्प्रतिष्ठा नहीं कर सके। यह उनका उद्देश्य भी नही रहा।

उन्होंने अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि अन्य सिद्धान्तों की अभिव्यंजना और रूप-निर्मिति के अलग-अलग पक्षों से संबंधित काव्य-दृष्टियों का भरत-परवर्ती आचार्यों के रसानुभूति-संबंधी मतों में समाहार करके एक सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र का निर्माण करना चाहा, किन्तु इन समन्वयकारी चेष्टाओं में भरतमुनि के व्यापक अभिप्राय अछूते ही रह गये। इतना ही नहीं, वेदान्त-दर्शन की भूमि पर रस की व्याख्या में 'आवरण-भंग' की प्रक्रिया जोड़कर पंडितराज जगन्नाथ ने रस को 'चिदानन्द-स्वरूप' एक 'चित्तवृत्ति' बना दिया। उनके अनुसार रति आदि स्थायीभाव अन्तःकरण के धर्म हैं और रति आदि से युक्त और आवरणरहित चैतन्य का नाम ही रस है। इस प्रकार नाट्य-प्रयोग से रस-सृष्टि का सिद्धान्त सामाजिक के मन पर पड़े प्रभाव से भी अधिक अन्तरंग, सामाजिक की चित्तवृत्ति में प्रकट स्थायीभावों से उद्बुद्ध 'स्व-प्रकाश आनन्दात्मक चैतन्य' बन गया।

रस-सम्प्रदाय के भरत-परवर्ती आचार्यों की आलोचना करना हमें अभिप्रेत नहीं है। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना-भर था कि रस का आस्वाद या आनन्द से समीकरण करके रसानुभूति की प्रक्रिया के विश्लेषण और निरूपण तक ही काव्य-शास्त्र को सीमित कर देनेवाले परवर्ती रसाचार्यों ने रस-चर्चा में अन्य मानसिक क्रियाओं और अनुभवों के लिए गुंजाइश नहीं रखी, जो किसी भी कलाकृति के पढ़ने या देखने से सहृदय को प्राप्त होते हैं। कलाकृति में समग्र मानव-जीवन, विचार, सामाजिक-नैतिक धारणाएं, ज्ञान, आकांक्षाएं, कल्पनाएं और कार्य-व्यापार प्रतिबिम्बित होते हैं—इन सब का सम्मिलित प्रभाव सहृदय के मन पर पड़ता है, जिससे उसे रसानुभूति होती है। यह अनुभूति केवल रति-शोक आदि स्थायीभावों के उद्रेक तक ही सीमित नहीं होती। इसके अलावा देवासुर-कथा को काव्यार्थ मानने में भरतमुनि की यह भी मान्यता थी कि इन काव्यार्थों में रस बीज-रूप में अव्यक्त है, इसलिए उन्होंने 'क्या अभिव्यक्त किया जाय ?' या 'अभिव्यक्त किया हुआ रस किस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से आस्वाद्य है ?' इन

प्रश्नों का विस्तृत विवेचन नहीं किया, केवल उनका संकेत-भर कर दिया। रस को अभिव्यक्त कैसे किया जाय, यह व्यावहारिक प्रश्न उनके सामने था और इसी लिए उन्होंने नाट्य-शास्त्र की रचना की। किन्तु रस-सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने इस समस्या की आगे खोजबीन नहीं की, वे भरत के रस-सूत्र को आधार बनाकर केवल भावक की दृष्टि से उसका विवेचन करते रहे। लेकिन चूंकि सहृदय की अनुभूति व्यक्ति-सापेक्ष होती है, इसलिए यह निर्धारित करना भी आवश्यक हो गया कि सहृदय कौन होता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन और पंडितराज जगन्नाथ ने सहृदय की 'सहृदयता' (सौन्दर्य या रस का आस्वादन और उसमें अवगाहन करने की क्षमता) का विवेचन किया और बताया कि जिस तरह कवि में 'कारयित्री प्रतिभा' अपेक्षित होती है उसी तरह रसिक या भावक में भी 'भावयित्री प्रतिभा' की ज़रूरत होती है—यह प्रतिभा ही उसे रसानुभूति की क्षमता प्रदान करती है। भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति रस के आस्वादन में विभिन्न अनुभूतियों का सामंजस्य और परिपाक चाहता है। यह तभी संभव है जब काव्य या कला-कृति में शब्द-अर्थ-कल्पना तथा अन्य अंग और उपकरण 'अंगागि-भाव' से इस प्रकार सुनियोजित हों कि वह एक समान्वित अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ हो। रसांगता का यह कला-निर्मिति और रसानुभूति या सौन्दर्य-बोध-संबंधी सिद्धान्त दूसरे शब्दों में, भरतमुनि के 'नाट्य में रस-सृष्टि' और 'नाना-व्यंजनों के विमर्द से उत्पन्न सामंजस्य-पूर्ण आस्वाद' का ही सिद्धान्त है, जिसकी ध्वनिकार आनन्दवर्धन और बाद में पंडितराज जगन्नाथ ने एक व्यापक सौन्दर्य-नियम के रूप में पुनः पुष्टि की।

लगभग दो-ढाई हज़ार साल से चलते आनेवाले इस रस-विवेचन और चिन्तन का एक परिणाम यह हुआ है कि भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि (ईस्थेटिक) में 'रस' एक अनिवार्य तत्त्व बन गया है, चाहे उसे भरतमुनि की तरह कवि-मन के आन्तरिक भाव-विचारों को विविध शिल्पगत और अभिव्यंजक भाव-रूप उपकरणों के संयोग से उत्पन्न कला की उस कीमिया

के रूप में समझा जाय जो उनको सर्वप्रत्ययकारी, साकार और मूर्त संश्लिष्ट इकाई के रूप में ढाल देती है, जिससे प्रेक्षक या पाठक के मन में अर्थ का प्रवर्तन संभव हो जाता है और वह पानक-रस के समान उस कृति का आस्वाद लेता है, या वाद के विचारकों के अनुसार रस को सहृदय के मन में वासना-रूप अवस्थित भाव, चित्तवृत्ति, आनन्द की अनुभूति या कुछ आधुनिकों के अनुसार एक बौद्धिक-भावना (intellectual feeling) या सौन्दर्य-भावना (aesthetic feeling) के रूप में समझें। इतना तो निश्चित है कि 'रस' का विचार-सूत्र (concept) विश्व के साहित्य-शास्त्र को भारतीयों की एक महती देन है। साथ ही यह भी निश्चित है कि हमारे देश में साहित्य हो या कला, उसकी चर्चा में रस-सिद्धान्त के विरोधी भी 'रस' की पूर्ण उपेक्षा कभी नहीं कर सके। आज भी जब साहित्य या कला की आलोचना में अधिकांशतः पाश्चात्य सिद्धान्तों और विचारधाराओं का प्रयोग होने लगा है, रस का विचार-सूत्र सर्वथा त्याज्य नहीं हो सका है। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, रोमान्टिक, यथार्थवादी, प्रतीकवादी, यथातथ्यवादी—किसी भी प्रवृत्ति का लेखक या कलाकार हो, या इन प्रवृत्तियों के अनुरूप ही किसी भी साहित्यिक, दार्शनिक या राजनीतिक विचारधारा का आलोचक क्यों न हो, वह 'रस' से न तो कलाकृति का और न पाठक या दर्शक का विच्छेद कराने में समर्थ हो सका है। 'रस' का विचार-सूत्र हमारी एक सामान्य और जीवन्त विरासत है। जैसे साधारण बोलचाल में, वैसे ही गंभीर विवेचन-मूल्यांकन में हमारी यह मूलभूत मान्यता रहती है कि साहित्य या कला की कृति रसवान हो, सरस हो, नीरस न हो, उसमें व्यक्त विचार या उसका शिल्प चाहे जैसा हो। साधारण प्रयोग में 'रस' का अर्थ आज भी भरतमुनि के अभिप्राय के अधिक निकट होता है, पाठक या दर्शक में अध्यात्मवादी दर्शनों की रस-दशा या चिदानन्दस्वरूप रस की वासना-रूप में अवस्थिति या वृत्ति-रूप रस आदि की परिकल्पनाओं का उसमें अन्तर्भाव नहीं रहता। एक प्रकार से साधारण व्यवहार में यही समझा जाता है कि कलाकृति रसवान होती है, इसी कारण पाठक या दर्शक में

रसोद्रेक करने की उसमें सामर्थ्य होती है, साथ ही यह भी कि विज्ञ और सहृदय पाठक या दर्शक में रसानुभूति की क्षमता होती है। यह साधारण मान्यता है। मेरे विचार में 'रस' का कोई पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी भाषा में नहीं है, जिस तरह जर्मन भाषा के Weltanschauung का पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी में नहीं मिलता। Weltanschauung का intellectual physiognomy (बौद्धिक रूपगठन?) अनुवाद भावार्थ को पूरी तरह व्यक्त करने में असमर्थ है, इसलिए 'किसी कृति में प्रत्येक पात्र के गंभीर वैयक्तिक अनुभव और अपनी अन्तःप्रकृति की अत्यधिक विशिष्ट, अपने स्वभावानुकूल अभिव्यक्ति' के रूप में इस शब्द के अर्थ को समझाना पड़ता है। इस जर्मन शब्द की तरह भारतीय शब्द 'रस' को भी बिना अनुवाद के अन्य भाषाओं में स्वीकार कर लेना चाहिए और उसके अर्थ को यथासंभव समझाने की कोशिश करनी चाहिए। हमारे आधुनिक विचारकों ने अपने अध्यापकीय जोश में 'रस' का sentiment, emotion या feeling से समीकरण करके आसान रास्ता निकालना चाहा, लेकिन उससे 'रस' शब्द के प्राचीन भारतीय अर्थ का तो लोप हुआ ही, 'थियरी आव सेन्टीमेन्ट्स' के रूप में परिणत होकर रस-सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में एक अवैज्ञानिक, अधकचरा सिद्धान्त बन गया, जिसकी आधारभूत मनोवैज्ञानिक स्थापनाएं उन्हें पर्याप्त रूप से वैज्ञानिक नहीं लगतीं। संभवतः इसी लिए उसकी ओर पाश्चात्य जगत के विद्वानों और आलोचकों ने इतनी उपेक्षा दिखायी है कि किसी भी कला-विवेचन में रस-सिद्धान्त का उल्लेख तक नहीं किया जाता। मेरा विचार है कि भरतमुनि की कला-निर्मिति-संबंधी वैज्ञानिक स्थापनाओं पर विभिन्न धार्मिक दर्शनों के आरोप और रसानुभूति की प्रक्रिया के स्वतन्त्र विवेचन के परिणामस्वरूप 'रस' एक अत्यन्त संश्लिष्ट विचार-सूत्र (कान्सेप्ट) बन गया है। उसमें जर्मन भाषा के Weltanschauung विचार-सूत्र का भी अन्तर्भाव है (क्योंकि 'सत्व' पात्र के तन्मय, अविकृत मन का द्योतक है, जिसके बिना नाट्य या कला-कृति में भावों का उद्बोधन संभव ही नहीं है, अर्थात

के रूप में समझा जाय जो उसको सर्वांगव्यापकारी, साकार और मूर्त मंजिल इकाई के रूप में ढाल देती है, जिससे प्रेक्षक या पाठक के मन में अर्थ का प्रवर्तन संभव हो जाता है और वह पानक-रस के समान उस कृति का आस्वाद लेता है, या बाद के विचारकों के अनुसार रस को सहृदय के मन में वासना-रूप अवस्थित भाव, चित्तवृत्ति, आनन्द की अनुभूति या कुछ आधुनिकों के अनुसार एक बौद्धिक-भावना (intellectual feeling) या सौन्दर्य भावना (aesthetic feeling) के रूप में समझें। इतना तो निश्चित है कि 'रस' का विचार-सूत्र (concept) विश्व के साहित्य-शास्त्र को भारतीयों की एक महती देन है। साथ ही यह भी निश्चित है कि हमारे देश में साहित्य हो या कला, उसकी चर्चा में रस-सिद्धान्त के विरोधी भी 'रस' की पूर्ण उपेक्षा कभी नहीं कर सके। आज भी जब साहित्य या कला की आलोचना में अधिकांशतः पाश्चात्य सिद्धान्तों और विचारधाराओं का प्रयोग होने लगा है, रस का विचार-सूत्र सर्वथा त्याज्य नहीं हो सका है। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, रोमान्टिक, यथार्थवादी, प्रतीकवादी, यथातथ्यवादी—किसी भी प्रवृत्ति का लेखक या कलाकार हो, या इन प्रवृत्तियों के अनुरूप ही किसी भी साहित्यिक, दार्शनिक या राजनीतिक विचारधारा का आलोचक क्यों न हो, वह 'रस' से न तो कलाकृति का और न पाठक या दर्शक का विच्छेद कराने में समर्थ हो सका है। 'रस' का विचार-सूत्र हमारी एक सामान्य और जीवन्त विरासत है। जैसे साधारण बोलचाल में, वैसे ही गंभीर विवेचन-मूल्यांकन में हमारी यह मूलभूत मान्यता रहती है कि साहित्य या कला की कृति रसवान हो, सरस हो, नीरस न हो, उसमें व्यक्त विचार या उसका शिल्प चाहे जैसा हो। साधारण प्रयोग में 'रस' का अर्थ आज भी भरतमुनि के अभिप्राय के अधिक निकट होता है, पाठक या दर्शक में अध्यात्मवादी दर्शनों की रस-दशा या चिदानन्दस्वरूप रस की वासना-रूप में अवस्थिति या वृत्ति-रूप रस आदि की परिकल्पनाओं का उसमें अन्तर्भाव नहीं रहता। एक प्रकार से साधारण व्यवहार में यही समझा जाता है कि कलाकृति रसवान होती है, इसी कारण पाठक या दर्शक में

रसोद्रेक करने की उसमें सामर्थ्य होती है, साथ ही यह भी कि विज्ञ और सहृदय पाठक या दर्शक में रसानुभूति की क्षमता होती है। यह साधारण मान्यता है। मेरे विचार में 'रस' का कोई पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी भाषा में नहीं है, जिस तरह जर्मन भाषा के Weltanschauung का पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी में नहीं मिलता। Weltanschauung का intellectual physiognomy (बौद्धिक रूपगठन?) अनुवाद भावार्थ को पूरी तरह व्यक्त करने में असमर्थ है, इसलिए 'किसी कृति में प्रत्येक पात्र के गंभीर वैयक्तिक अनुभव और अपनी अन्तःप्रकृति की अत्यधिक विशिष्ट, अपने स्वभावानुकूल अभिव्यक्ति' के रूप में इस शब्द के अर्थ को समझाना पड़ता है। इस जर्मन शब्द की तरह भारतीय शब्द 'रस' को भी बिना अनुवाद के अन्य भाषाओं में स्वीकार कर लेना चाहिए और उसके अर्थ को यथासंभव समझाने की कोशिश करनी चाहिए। हमारे आधुनिक विचारकों ने अपने अध्यापकीय जोश में 'रस' का sentiment, emotion या feeling से समीकरण करके आसान रास्ता निकालना चाहा, लेकिन उससे 'रस' शब्द के प्राचीन भारतीय अर्थ का तो लोप हुआ ही, 'थियरी आव सेन्टीमेन्ट्स' के रूप में परिणत होकर रस-सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में एक अवैज्ञानिक, अधकचरा सिद्धान्त बन गया, जिसकी आधारभूत मनोवैज्ञानिक स्थापनाएं उन्हें पर्याप्त रूप से वैज्ञानिक नहीं लगीं। संभवतः इसी लिए उसकी ओर पाश्चात्य जगत के विद्वानों और आलोचकों ने इतनी उपेक्षा दिखायी है कि किसी भी कला-विवेचन में रस-सिद्धान्त का उल्लेख तक नहीं किया जाता। मेरा विचार है कि भरतमुनि की कला-निर्मिति-संबंधी वैज्ञानिक स्थापनाओं पर विभिन्न धार्मिक दर्शनों के आरोप और रसानुभूति की प्रक्रिया के स्वतंत्र विवेचन के परिणामस्वरूप 'रस' एक अत्यन्त संश्लिष्ट विचार-सूत्र (कन्सेप्ट) बन गया है। उसमें जर्मन भाषा के Weltanschauung विचार-सूत्र का भी अन्तर्भाव है (क्योंकि 'सत्व' पात्र के तन्मय, अधिकृत मन का द्योतक है, जिसके बिना नाट्य या कला-कृति में भावों का उद्बोधन संभव ही नहीं है, अर्थात

जब तक पात्र स्वयं (रामादि) होकर अपनी-अपनी (रामादि की) अन्तरंग बौद्धिक-चेतना और प्रतिक्रियाओं को सहज अभिव्यक्त न कर सकें, तब तक रस-सृष्टि असंभव है) और पर्याय से रस में कला-सृष्टि की 'गेस्टाल्ट'-जैसी समष्टिगत और द्वन्द्वात्मक कीमिया (अर्थ का साकार मूर्तिकरण) भी ध्वनित है। इसके अलावा रस एक आस्वाद्य पदार्थ है, इसमें कला की संप्रेष्यता का सिद्धान्त (कम्यूनीकेशन) तो स्वीकृत है ही, यह प्रेषण कैसे होता है, साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति की संश्लिष्ट प्रक्रिया द्वारा जिसमें व्यक्ति अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अर्थ का रसास्वादन करता है, यह भी व्यंजित है। इसलिए सेन्टीमेन्ट, इमोशन या फीलिंग से रस का समीकरण करने की अध्यापकीय प्रवृत्ति का अन्त होना जरूरी है, नहीं तो 'रस-सिद्धान्त' में जो काल-निरपेक्ष सौन्दर्य-नियम निहित हैं, उनके प्रति संसार उदासीन बना रहेगा। रस कला-निर्मिति (creative process) और उसके आस्वादन (aesthetic experience) का एक संश्लिष्ट कन्सेप्ट है।

: ४ :

ध्वनि-सिद्धान्त

आनन्दवर्धन

भरतमुनि के बाद सबसे अधिक प्रतिभाशाली और मौलिक साहित्य-चिन्तक नवीं शती के आरंभ में ध्वनिकार आनन्दवर्धन हुए। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापनाएं आज भी विलक्षण रूप से आधुनिक ही नहीं लगतीं, बल्कि पाश्चात्य विचारकों की तत्संबंधी स्थापनाओं से अधिक व्यापक और सूक्ष्म भी हैं। भरतमुनि के समय में कला अनामिक होती थी, इसलिए उन्होंने यह मानकर कि देवासुर-कथा को लेकर चलनेवाले काव्यार्थ (नाट्य-वस्तु)

अपने-आपमें ही रसवान् है, अपने स्वयम्पालमर नाट्य-प्रयोग की पा
अवस्था—कवि और काव्य-रचना से पहले उसके मन में होनेवाली प्रति
की विशद करने की आवश्यकता नहीं महसूस की थी। उस समय म
संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य के साथ काव्य भी नाट्य का ही अंग ह
था। किन्तु कालान्तर में काव्य साहित्य के एक विशिष्ट प्रकार के
में विकसित हो गया था। अगली शताब्दियों में भास, अश्वघोष, शू
कालिदास, हर्ष, विशाखदत्त, भारवि, दण्डी, माघ, भवभूति, भट्टनाराय
शक्तिभद्र, सुबन्धु, बाणभट्ट और विष्णुशर्मा—जैसे विशिष्ट महाकवि
नाटककारों और कथाकारों की कृतियां रची जा चुकी थीं, अर्थात् संस्कृ
साहित्य में जितना कुछ महनीय है, आनन्दवर्धन के समय तक उस
अधिकांश रचा जा चुका था। इससे साहित्यालोचन के अनेक व्या
प्रश्न उठ खड़े हुए थे। कौन कवि है, कौन अ-कवि, काव्य क्या है, क
के मन में इच्छा (कल्पना) उदित होने से लेकर काव्य-कृति की रच
तक सृजन की प्रक्रिया का क्या स्वरूप होता है और किसी काव्य-कृति
श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानने के कौन-से नैतिक, सामाजिक और सौन्दर्यात्म
मानदंड होने चाहिए, ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गये थे। भामह, दण
उद्भट, वामन, रुद्रट आदि अलंकारवादी (या रीतिवादी) आचार्यों
शब्दार्थों के स्वरूपगत और संघटनागत तत्त्वों तक अपने को सीमित रख
साहित्य-विवेचन को शब्द-प्रयोग, अलंकार-योजना और गुण-विशि
पद-रचना की छानबीन का संकीर्ण माध्यम बना दिया था, जिसमें क
कृति के व्यापक, नैतिक, सामाजिक और सौन्दर्य-मूल्य विवेच्य ही नहीं ह
थे और इस प्रकार शब्दों की बाजीगरी या अर्थहीन उक्ति-वैचित्र्य को
काव्य की संज्ञा दी जा सकती थी। रीतिवादी आचार्यों ने काव्य में र
को प्रधानता नहीं दी थी। वे काव्य में वाच्य-अर्थ की ही सत्ता मानते
इसलिए ध्वनिकार आनन्दवर्धन और बाद में लोचनकार अभिनवगु
और मम्मट आदि ने एक ओर जहां ध्वनि-कवि को स्रष्टा (प्रजापति अ
परमशिव) का दरजा देकर पहले उसके मन में उत्पन्न होनेवाली सृ

इच्छा (संकल्प और कल्पना-शक्ति) का, फिर ज्ञान, क्रिया और इच्छा के सामरस्य और संयोग से काव्य और कला-सृष्टि की प्रक्रिया का और अन्त में सहृदय की विषयीगत सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया का समग्र रूप से निरूपण किया, वहाँ दूसरी ओर ध्वनि, औचित्य और रसांगता का काव्य के मूल्य-निरूपक सिद्धान्तों के रूप में विकास किया और तीसरी ओर अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान ('व्यंग्य') दो भेद निरूपित करके तीन प्रकार की वस्तु, अलंकार और रस-ध्वनियों का विवेचन किया और रस-ध्वनि को ही काव्य का जीवन बताया। इस प्रकार ध्वनिकार ने भारतीय आलोचना को एक नयी दिशा देकर उसके व्यापक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। आनन्दवर्धन प्रकृति से स्वच्छन्दतावादी (रोमान्टिक) थे, शायद इसी लिए कुछ लोग योरप के प्रथम रोमान्टिक साहित्य-चिन्तक लौंजाइनस से उनकी तुलना करते हैं। लेकिन लौंजाइनस का 'काव्य में उदात्त तत्त्व' का सिद्धान्त आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के समान व्यापक नहीं है। यह सिद्धान्त भरत-मुनि के रस-सिद्धान्त का विरोधी नहीं, बल्कि उसका पूरक और परिपोषक है।

ध्वनिकार की मान्यता है कि "अनन्त काव्य-जगत में (उसका निर्माता) केवल कवि ही एक प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसे जैसा अच्छा लगता है, यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है। . . सुकवि (परिपक्व, सिद्धहस्त कवि) अपने काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान जैसा चाहता है, वैसा व्यवहार कराता है।" तात्पर्य यह कि कवि (या कलाकार) अपनी स्वच्छन्द इच्छा से प्रेरित होकर ही काव्य या कला की रचना करता है, किसी बाह्य दबाव के कारण नहीं, और उसमें समस्त चराचर जगत को अपने 'अभिमत रस' का अंग बनाने की सामर्थ्य होती है। इस प्रकार इस मत में दो प्रक्रियाएं उपलक्षित हैं। पहली तो यह कि कवि (या कलाकार) अपनी स्वच्छन्द इच्छा से सृष्टि करता है, और उसके लिए वह अपने ज्ञान (अनुभव) से समग्र जीवन ...र प्रकृति में से उपकरण जुटाता है। दूसरी यह कि सृष्टि करते समय ... स्वच्छन्द नहीं रहता, उसे 'पूर्ण रूप से रस-परतंत्र बन जाना' पड़ता है।

वह काव्य की 'ध्वनि-मर्यादा' या 'रसवत्ता' या 'औचित्य' का 'अतिक्रमण' नहीं कर सकता। यदि करे तो काव्य या वक्ता की सृष्टि नहीं होगी। सृष्टि के समय 'रस-विरोधिनी चेष्टा' का प्रयोग करने से काव्य की रसाभि-व्यंजकता और चारुत्व (सौन्दर्य) नष्ट हो जाता है।

आनन्दवर्धन से पहले के आलंकारिक 'अभ्यास' और 'काव्यशास्त्रानु-शीलन' को काव्य-सृष्टि का कारण मानते थे। लेकिन आनन्दवर्धन ने 'दरिद्यात् प्रतिभागुणः' कहकर काव्य-सृष्टि को प्रतिभाजन्य घोषित किया। उनके अनुसार कवि-सर्जना में ही नहीं, काव्यानुभूति में भी 'प्रतिभा' ही प्रधान कारण होती है। भामह ने भी 'प्रतिभा' को काव्य-सृष्टि का कारण माना था, और प्रतिभा से तात्पर्य 'नवनवोन्मेषशालिनीबुद्धि' बताया था, यानी प्रतिभा अभ्यास और अध्ययन से प्राप्त बुद्धि-तत्त्व है। आनन्दवर्धन ने 'प्रतिभा' को 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा' कहकर उसे एक प्रकार से सहजात क्षमता का आधुनिक अर्थ प्रदान किया। उनके अनुसार कवि में अगर प्रतिभा हो तो 'नवीन वर्णनीय तत्त्वों की समाप्ति नहीं हो सकती।' प्रतिभा के बिना कवि के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं रहती, जिससे वह काव्य में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) की सृष्टि कर सके। इस 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा' रूप 'प्रतिभा' में ही कल्पना-शक्ति का अन्तर्भाव है।

भारतीय काव्य-शास्त्र को आनन्दवर्धन की सबसे बड़ी देन उनका 'अर्थ-विचार'-संबंधी वैज्ञानिक विवेचन है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस 'थियरी ऑफ मीनिंग' का विकास पश्चिम के आलोचकों ने बीसवीं शताब्दी में आकर किया है, उसका आनन्दवर्धन ने लगभग ग्यारह सौ साल पहले ही विकास कर दिया था और वह तब से भारतीय काव्या-लोचन का मूलाधार बनी हुई है। इसलिए इस 'थियरी ऑफ मीनिंग' का वास्तव में श्रेय आनन्दवर्धन को है, आई० ए० रिचर्ड्स को नहीं। भारतीय आलोचना में शब्दार्थ की चर्चा बहुत पहले से (भामह के समय से) होती आयी थी, लेकिन शब्दार्थ को काव्य का शरीर माननेवाले रीतिवादी

आचार्य अर्थ को वाच्यार्थ (अभिधा और उसकी प्रसूत लक्षणा) में अति नहीं मानते थे। आनन्दवर्धन ने अर्थ के दो भेद किए—वाच्य (सांकेतिक) और प्रतीयमान (भावात्मक)। प्रतीयमान अर्थ को उन्होंने काव्य का आत्म तत्त्व बताया। प्रतीयमान अर्थ की तुलना आनन्दवर्धन ने रमणियों के मुख-नेत्र-नासिका आदि बाह्यांगों के सौन्दर्य से भिन्न उनके आभ्यन्तर लावण्य से की, जो उनका वास्तविक सौन्दर्य है। 'यह लावण्य सहृदय नेत्रों के लिए अमृत-तुल्य कुछ और ही तत्त्व है जो रमणी के अवयवों से भिन्न होता है।' काव्य में यह अर्थ शब्दों के वाच्यार्थ से अलग भासित, उनका 'व्यंग्यार्थ' है। आनन्दवर्धन ने यह तो स्वीकार किया कि काव्य के 'प्रतीयमान अर्थ' की प्रतीति में शब्द का वाच्यार्थ केवल साधन-मात्र है, लेकिन वह 'प्रतीयमान अर्थ' के लिए अपने अर्थ को 'उपसर्जनीभूत' बना देता है। इस प्रकार काव्य में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) की सत्ता सिद्ध करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा कि "व्यंग्य और व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियों को महाकवि-पद की प्राप्ति होती है, वाच्य-वाचक रचना से नहीं।" यहां पर यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक 'थियरी ऑफ मीनिंग' में भी अर्थ के दो भेद किए गये हैं, जो ध्वनिकार के विवेचन से मिलते हैं। आई० ए० रिचर्ड्स ने भाषा के वैज्ञानिक और भावात्मक दो तरह के प्रयोगों के अनुरूप अर्थ के भी दो ही भेद किए हैं—सांकेतिक अर्थ और भावात्मक अर्थ। ध्वनिकार ने भी वाच्यार्थ को "साक्षात् संकेतित अर्थ" कहा था। इस अर्थ को प्रतिपादक शक्ति 'अभिधा' और शब्द 'वाचक' कहलाता है। 'भावात्मक अर्थ' का तात्पर्य 'प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ' से मिलता-जुलता है, क्योंकि 'लावण्य' और 'अमृत'-तुल्य बताकर उसकी प्रतीति में सहृदय या विषयी की भाव-प्रतिक्रिया का अन्तर्भाव सिद्ध किया गया है। इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्य-मर्मज्ञ ही कर सकता है, काव्यार्थ-भावना के द्वारा, ऐसा आनन्दवर्धन का मत है। मार्क्स ने भी सौन्दर्यानुभूति की चर्चा करते हुए अनेक उदाहरण देकर इस बात की पुष्टि की है कि जिसमें संगीत में रस लेने की क्षमता (सौन्दर्यबोधिनी ऐन्द्रिय

भावना) नहीं है, वह श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ संगीत मे भी आनन्द नहीं ले सकता। इस प्रकार वाच्य और प्रतीयमान, अर्थ की इस द्वि-रूपता का उद्घाटन सबसे पहले ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने किया। काव्य-तत्त्व को समझने के लिए यह अर्थ-विचार आवश्यक था। अंग्रेजी के मार्क्सवादी आलोचक कॉडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'माया और वास्तविकता' (Illusion and Reality) मे कविता की चारित्रिक विशेषताओं का निरूपण करते हुए कहा है कि हर शब्द मे साकेतिक अर्थ (वाच्यार्थ) और भावात्मक अर्थ (प्रतीयमान अर्थ) की द्वन्द्वात्मक अन्विति रहती है—शब्द का साकेतिक अर्थ किसी बाह्य वस्तु का सकेत करता है और उसका भावात्मक अर्थ उसके प्रति विषयी की भाव-प्रतिक्रिया की व्यंजना करता है। इस प्रकार हर शब्द में विषय और विषयी, बाह्य वस्तु-जगत और आन्तरिक मनोजगत केवल प्रतिबिम्बित ही नही हैं, अन्तर्गुम्फित भी हैं, और विज्ञान जहां मुख्यत. शब्द के साकेतिक (वाच्य) अर्थ का व्यापार है, वहां कविता मुख्यतः उसके भावात्मक (प्रतीयमान) अर्थ का व्यापार है। आनन्दवर्धन ने काव्य मे अर्थ के इस भावात्मक व्यापार का प्रतिपादन ही नहीं किया, इसकी प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन भी किया। उन्होंने 'अर्थ'-मात्र को रस, अलंकार और वस्तु इन तीन कोटियों मे बाटा। वस्तु तथा अलंकारवाला अर्थ वाच्यार्थ भी हो सकता है और व्यंग्यार्थ भी, लेकिन 'रस' मे केवल व्यंग्य-व्यंजक भाव ही घटित हो सकता है, यानी 'रस' हमेशा व्यग्य ही होता है। वस्तु तथा अलंकार जहां व्यग्य होता है वहां ही आस्वाद्य होता है। इस विवेचन के आधार पर आनन्दवर्धन ने काव्य को 'ध्वनि', 'गुणीभूत व्यग्य' और 'चित्र-काव्य, तीन कोटियों में बाँटा, और ध्वनि-काव्य को ही श्रेष्ठ माना—उस काव्य को जिसमे रस-ध्वनि हो।

इस प्रकार यह स्थापित करने के बाद कि अभिधा और लक्षणा से अलग व्यंजना-शक्ति शब्द के प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन करती है, उन्होंने यह भी दिखाया कि इस प्रतीयमान अर्थ द्वारा ही रस और भाव की सूक्ष्म आभ्यंतरिक चेतना से साक्षात्कार किया जा सकता है। ध्वनि-सिद्धान्त

की यही मौलिक स्थापना है। रस, ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ ही काव्यात्म
है, बाकी सब काव्य के बाह्यांग, उपकरण या आभूषण हैं। "कथन की
अनन्त शैलियां हैं और वही अलंकार के प्रकार हैं।" इसलिए अलंकार काव्य
के अनित्य धर्म हैं, उनके बिना भी उच्च कोटि के काव्य की रचना संभव
है। जहां तक पद-रचना (रीति) का प्रश्न है, वह रसानुरूप ही होनी
चाहिए, उसका आधार वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध का औचित्य है। वामन
ने काव्य के माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि गुणों को रीति (पद-रचना)
का वैशिष्ट्य माना था, किन्तु आनन्दवर्धन ने उनको काव्य की आत्मा का
धर्म बताया, जैसे वीरता, उदारता आदि आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं।
इसलिए काव्यात्म 'रस' के अनुरूप ही काव्य में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि
गुणों का होना उन्होंने अनिवार्य घोषित किया।

ध्वनि-संबंधी इन उद्भावनाओं के परिणामस्वरूप दो और सिद्धान्
(या सौन्दर्य-नियम) निकलते हैं, जो अन्ततः साहित्यालोचन के भी सामान
नियम हैं। ये सिद्धान्त हैं 'औचित्य' और 'रसगतता' के सिद्धान्त, जिना
प्रतिपादन ध्वनिकार ने किया है। भरत-सूत्र में आये 'संयोग' शब्द का अ
आनन्दवर्धन ने 'औचित्य' लगाया। 'औचित्य' का अर्थ है 'रस के अनुसा
औचित्य।' यह औचित्य विषयगत भी हो सकता है और काव्य की संघटना
गत भी और रस-बध-संबंधी भी। इन तीन प्रकार के औचित्यों से काम्
आख्यायिका, नाटक (अर्थात् सभी प्रकार की गद्य-पद्य रचनाओं) क
विषयगत सामाजिक-नैतिक विचार-वस्तु, रचनागत शब्द-योजना, प
विन्यास, अलंकार-सज्जा आदि बाह्य रूप-तत्त्व और इनके संयोग औ
सामंजस्य से उत्पन्न उसके व्यंग्यार्थ (आभ्यंतरिक सौन्दर्य या रस) क
परस्परिता सिद्ध होती है। तात्पर्य यह कि रचना को विचार-वस्तु (conten
यदि नैतिक और सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करती है, तो वह अनौचि
है, शिव और सत्य का खंडन करती है, तो इससे रस-भंग होता है। य
रचना में शब्द-पद-अलंकार-योजना रसानुरूप (व्यंग्यार्थ के अनुकूल) न
है, तो वह भी अनौचित्य है। और अगर व्यंग्यार्थ (रस-योजना) में अनौ

रोध है—ऐसा अन्तर्विरोध जो रसोत्कर्ष में (प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने में) बाधक है तो वह भी अनौचित्य है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने यह मत प्रकट किया कि कवि को 'रसविरोधिनी स्वेच्छा' का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि "अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक काव्य में नहीं होता। रस के उन्मेष का मुख्य अर्थ है, औचित्य द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन।" औचित्य की इस प्रक्रिया का उन्होंने काव्यों में से उदाहरण देकर सूक्ष्म विवेचन किया है। रसांगता का सिद्धान्त एक प्रकार से 'औचित्य' का ही पूरक है। रसांगता का मतलब यह है कि हर प्रबंध-काव्य (महाकाव्य या नाटक) अनेक रसों की समष्टि तो होता है, लेकिन एक-न-एक रस उसमें स्थायी (प्रबंधव्यापी) होता है। वह उसका अंगी (प्रधान) रस होता है। हर प्रबंध या नाटक में प्रासंगिक अवान्तर कार्य या आख्यान वस्तु से परिपुष्ट एक प्रधान कार्य (विषय, आख्यान, वस्तु) रखा जाता है। इसी तरह महाकाव्यों में प्रबंध-व्यापी अंगीरस के साथ अंगभूत अवान्तर रसों का भी समावेश होता है, जो उसको परिपुष्ट करते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य में अंगीरस के साथ अन्य रसों का अंगांगिभाव होना चाहिए, बाध्य-बाधकभाव नहीं, विरोधी रसों का भी उसमें अंगांगिभाव से ही समावेश करना जरूरी है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य-सृष्टि के व्यापक सौन्दर्य-नियमों का निरूपण ही नहीं किया, साहित्यालोचन के व्यापक मानदंडों का भी निर्धारण किया।

अभिनवगुप्त

काश्मीर के तत्कालीन साहित्याचार्यों को आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त आरंभ में मान्य नहीं हुआ। काव्य का आत्मतत्व 'प्रतीयमान अर्थ' है, यह स्थापना उनको परम्परा-विहित नहीं लगी। मुकुलभट्ट ने इसका विरोध किया और भट्टनायक ने तो केवल ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन करने के उद्देश्य से ही एक गंभीर ग्रन्थ (हृदयदर्पण) की रचना कर डाली। इन

और सौन्दर्य-नियमों का विस्तार से विवेचन किया है, जो आनन्दवर्धन के मूल अभिप्रायों को अत्यन्त मौलिक ढंग से विशद करता है। शैव-दर्शन के अनुसार बाह्य-जगत की सृष्टि-प्रक्रिया और कला-सृष्टि और सौन्दर्य की प्रक्रिया वस्तुतः एक-जैसी ही हैं। जिस तरह शुद्ध चेतन-तत्त्व-रूपी 'परमशिव' जड़ जगत का स्रष्टा है उसी तरह कवि और कलाकार सौन्दर्य का स्रष्टा होता है। इस प्रकार कलाकार या कवि का दरजा 'परमशिव' के बराबर है। (यहां आनन्दवर्धन के प्रजापति का स्थान अभिनवगुप्त के परमशिव ने ले लिया।) यह कवि या कलाकार अपनी स्वतंत्र इच्छा से सृष्टि करने की ओर प्रवृत्त होता है, क्योंकि सृष्टि करने में उसकी आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है। सृष्टि उसकी आत्माभिव्यक्ति (self-expression) ही नहीं, आत्मानुभूति (self-realization) भी है।[1]

आगे की प्रक्रिया इस प्रकार सम्पन्न होती है। स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से सृष्टि करने का संकल्प पैदा होते ही कलाकार की चेतना में शक्ति-तत्त्व (क्रिया-तत्त्व) जाग्रत हो जाता है। इच्छा-शक्ति की तरह यह शक्ति-तत्त्व भी स्वच्छन्द है, क्योंकि चेतना का अंश होते हुए भी सृष्टि करने की सामर्थ्य उसमें होती है। कलाकार अपनी चेतना के इस शक्ति-तत्त्व द्वारा ही सृष्टि करता है। और कलाकार की इच्छा, क्रिया और ज्ञान (अनुभव) तीनों के सामरस्य से ही यह कला-सृष्टि सम्पन्न होती है। यह कला-सृष्टि एक प्रकार से प्रतिबिम्बन की प्रक्रिया है, जिसमें कलाकार अपने 'अहम्' (मैं हूं) और 'इदम्' (यह है) के अनुभव-ज्ञान से संयुक्त चेतना को प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए कलाकृति और उसका कलाकार भिन्न प्रतीत होने पर भी अभिन्न होते हैं। वैसे तो प्रत्येक वस्तु के निर्माण में कला-शक्ति काम करती

---

१. देखिए 'समालोचक' के 'सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक' में प्रकाशित प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का निबंध "शैव-दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र" जिसमें अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' के आधार पर शैव-दर्शन की सौन्दर्य-संबंधी स्थापनाओं का परिचय दिया गया है। उसका सारांश यहां प्रस्तुत है।

है, लेकिन शुद्ध कला वही होती है, जिसमें कलाकार किसी तात्कालिक आत्म-लाभ की इच्छा से सृजन नहीं करता, बल्कि अपने 'स्व' को व्याप्त करने के लिए। *इससे जड़ता दूर होती है और स्वप्रकाश ज्ञान का आविर्भाव* होता है। ऐसी शुद्ध कला के निर्माण के लिए जरूरी है कि कलाकार की चेतना शुद्ध हो, ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित न हो। स्वच्छ चेतना में ही पदार्थ (बाह्य और आन्तरिक जीवन) का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा और क्रिया द्वारा यह कला-शक्ति (प्रतिभा) स्वयं प्रेरित बन कर कलाकार से सृष्टि करवाती है। और कलाकार सृष्टि करके, कलाकृति में अपने (अहम्-इदम् समन्वित) 'स्व' को प्रतिबिम्बित करके अपने-आपको सार्थक मानता है।

ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से कला कोरा मनोरंजन नहीं है। सामाजिक और नैतिक (सत्य और शिव) मूल्यों से उसका विच्छेद होने पर *कला-सृष्टि संभव ही नहीं है।* इस अभिप्राय को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'ज्ञान' के अभाव में कला अधःपतन की ओर ले जाती है। ज्ञान (अनुभवजन्य चेतना और विवेक) के बिना कला 'दोषास्पद' और ज्ञान से संयुक्त कला 'सुषमा' होती है। इसलिए स्रष्टा को विवेकहीन नहीं होना चाहिए। विवेक का तात्पर्य है—'अकर्तत्व की चेतना', यानी कलाकार को सामाजिक-दायित्व की भावना-चेतना। विवेकहीन कलाकार 'अहंकार' के कारण विकास नहीं कर सकता। पाठक या दर्शक में भी विवेक की उतनी ही अपेक्षा है, क्योंकि उसके बिना वह 'आसक्ति' के कारण कला को केवल वासनापूर्ति का साधन समझ लेगा। चेतना के बाह्यस्तरों (मन व इन्द्रिय जगत्) को क्षुब्ध करके जो कलाकार आन्तरिक रूप से स्वस्थ और तटस्थ नहीं रह सकता, वह कलाकार नहीं, मानसिक रोगी है। इसलिए कला का जन्म 'सात्विक' अवस्था में ही संभव है—'तमस्' और 'रजस्' की अवस्थाओं में कला का जन्म नहीं होता, केवल शिल्प और शोक का जन्म होता है। सात्विक स्थिति में, ज्ञान-शक्ति की सहायता से 'राग'

के प्रति तल्लीनता तथा कला से रूपों को सर्जना होने पर ही सृष्टि होती है। यह सृष्टि काल-विशेष में होती है, इसलिए 'काल' भी सहायक तत्त्व है। नियति-तत्त्व सृष्टि या कर्मविशेष करने की प्रेरणा है। इस प्रकार माया (रूप को गोपन करनेवाली शक्ति) कला, विद्या, राग, काल और नियति ये छः कंचुक सृष्टि के लिए अनिवार्य होते हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार जगत के सभी पदार्थ सुन्दर हैं। सुन्दर या असुन्दर—यह अनुभव हमारी वासना पर निर्भर करता है। देश, काल, जाति,पात्र के भेद से सौन्दर्य के अनेक स्तर व मापदंड बन गये हैं,परन्तु चेतना के साथ सम्पृक्त हो जाने पर असुन्दर पदार्थ भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। वस्तुतः शिवत्व और सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही सौन्दर्य का वास्तविक ज्ञान होता है। अतः सौन्दर्य का शिव और सत्य से अभिन्न सम्बन्ध है। शिव और सत्य अप्रत्यक्ष रूप से कलाकार की चेतना में स्फूर्ति उत्पन्न करते हैं, अतः आत्म-स्फुरण की अभिव्यक्ति कला है और 'आत्म' का निर्माण शिव और सत्य के ज्ञान से पूर्ण होता है। पाठक और दर्शक में भी जब यह सत्य-शिव के ज्ञान से संयुक्त आत्म-स्फुरण होता है, तभी वह कला के मर्म को समझ पाता है, क्योंकि इस सात्विक स्थिति में निजी राग-द्वेष से ऊपर उठकर ही वह कला के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करता है। यह प्रतीति उसकी अपनी चेतना के शुद्ध रूप की प्रतीति होती है। इस प्रकार कला में व्यक्त सुख-दुःख आदि भावों के साधारणीकृत रूप का वह इस प्रकार भोग करता है जैसे वे उसके ही भाव हों। इसी लिए उसे 'सहृदय' कहते हैं—स्फुरित चेतना से युक्त हृदयवाला। कला का सौन्दर्य इस चेतना को स्फुरित करने में ही है, और उसका आनन्द अपने ही आनन्द की 'चर्वणा' में है। इसी को 'रसावस्था' कहते हैं, जिसमें विषयगत सौन्दर्य और विषयी-अनुभूत सौन्दर्य दोनों मिल-कर एक हो जाते हैं। अभिनवगुप्त की ये कतिपय उद्भावनाएं उन्हें विश्व के महान साहित्य-चिन्तकों की कोटि में रखती हैं।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ध्वनि-सिद्धान्त का बाद में 'वक्रोक्ति-जीवितम्' के लेखक कुन्तक (ग्यारहवीं शती का आरंभकाल) और

'व्यक्ति-विवेक' के लेखक महिमभट्ट (ग्यारहवीं शती का मध्यकाल) ने विरोध किया। कुन्तक का उद्देश्य केवल ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन कर नहीं था, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य तो वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मौलि प्रतिपादन करना था; लेकिन उन्होंने ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) को वक्रोक्ति (विचित्रा अभिधा) द्वारा प्रतिपादित "विशिष्ट कोटि का अभिधेयार्थ से अधिक नहीं माना। उनकी दृष्टि में ध्वनि प्रकारान्तर से वक्रोक्ति ही है इसी प्रकार रस को भी उन्होंने वक्रोक्ति का ही एक भेद माना। महिमभ ने इसके विपरीत ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत बतलाने के लिए ही 'व्यक्ति विवेक' (व्यंजना का विवेचन) ग्रन्थ रचा। उन्होंने बड़ी विद्वत्ता से सिद्ध किया कि प्रतीयमान अर्थ वास्तव में अनुमेय अर्थ है।

मम्मट : विश्वनाथ : जगन्नाथ

आचार्य मम्मट (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में विभिन्न मतों के ध्वनि-विरोधी आचार्यों की युक्तियों का खंडन करके व्यंजना की एक स्वतंत्र वृत्ति के रूप में स्थापना की। उनके पश्चात् कविराज विश्वनाथ (चौदहवीं शती का आरंभकाल) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में ध्वनि की पर्याप्त मीमांसा की। अन्त में पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शती का मध्यभाग) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में ध्वनि-सिद्धान्त का प्रौढ़ विवेचन और परिपोषण किया। लेकिन ये तीनों मौलिक चिन्तक नहीं हैं, समन्वयकारी साहित्याचार्य हैं, जिन्होंने भारतीय आलोचना के समग्र सम्प्रदायों का रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहार करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। यह उनके समन्वयकारी प्रयत्नों का ही परिणाम है कि भारतीय आलोचना में 'अलंकार' की जगह 'अलंकार्य' की पुनः प्रतिष्ठा हो सकी।

: ५ :

औचित्य-सिद्धान्त

'औचित्य' की चर्चा हम ध्वनि-सिद्धान्त के प्रसंग में कर चुके हैं। आनन्दवर्धन ने ही सबसे पहले भरत-सूत्र में आये 'संयोग' शब्द का औचित्य से समीकरण करके नाट्य या काव्य में स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव के औचित्य पर जोर दिया था, और उसे रस-भंग के प्रसंग में प्रकारान्तर से साहित्यालोचन के मानदंड के रूप में भी पेश किया था। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, लेकिन व्यवहार रूप में औचित्य का विधान नाट्य-प्रयोग में मिलता है। उनका कहना है कि "लोक ही नाट्य का प्रमाण है।" रूप, वेश, मुद्रा आदि के लोकानुरूप अनुकरण से ही नाट्य में यथार्थ-विधान संभव है। भरतमुनि ने स्पष्ट कहा भी कि "जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है, उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। कोई पात्र करधनी को अपने गले में और हाथ में पहने तो वह उपहास का ही पात्र होगा।" इस प्रकार काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल-स्रोत इस भरत-वाक्य में ही मिलता है।

अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए 'लोचन' में कहा कि औचित्य और ध्वनि परस्परोपकारक तत्त्व हैं, ध्वनि के बिना औचित्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अभिनवगुप्त के शिष्य और संस्कृत के प्रसिद्ध कवि क्षेमेन्द्र स्वयं ध्वनिवादी थे, लेकिन उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र के अनुसार "औचित्य ही काव्य का दृढ़ अविनाशी जीवन है।" औचित्य किसे कहते हैं? उत्तर है कि "उचित के भाव को औचित्य कहते

है।" यह औचित्य ही काव्य का प्राणभूत है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में विस्तार से पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक लिंग, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद इन मर्म में मर्मस्थानों के समान काव्य-रूपी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राणभूत औचित्य का विचार किया है। औचित्य के इन भेदों का विवेचन करते हुए उन्होंने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों के उदाहरणों से औचित्य का विधान या उसका अभाव दिखाकर व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप स्थिर किया। लेकिन आलोचना की यह पद्धति विश्लेषणात्मक ही है, अलग-अलग काव्यांगों का औचित्य की दृष्टि से विश्लेषण करने तक ही इस सिद्धान्त की उपादेयता सीमित दीखती है। भरतमुनि ने 'लोकस्वभावोपगत' जिस औचित्य की बात कही थी और आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने रसभंगता के प्रसंग में ध्वनि और रस की सिद्धि में जिस औचित्य की अनिवार्यता मानी थी, वह एक सहायक, उपकारक तत्त्व के रूप में ही, इसलिए उनके यहां औचित्य अपने यथास्थान ही सुशोभित है, वह काव्य का प्राणभूत होने का दावा नहीं करता। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ओर से जब यह दावा पेश किया तो काव्य के अन्य सभी तत्त्वों का उसके अन्तर्गत समाहार करने की जरूरत पड़ गई। अतः औचित्य के इतने भेद। आलोचक इतनी दृष्टियों से काव्य-कृति का विश्लेषण करके केवल औचित्य का विधान या अभाव ही सिद्ध कर सकता है, उसके सम्पूर्ण मर्म को न समझ सकता है और न उसका व्यापक मूल्यांकन ही कर सकता है। शायद इसी लिए औचित्य को काव्य का प्राणभूत माननेवाले प्राचीन भारतीय आलोचना में क्षेमेन्द्र ही अकेले आचार्य हैं।

हमने अब तक उन भारतीय आलोचना-सिद्धान्तों की ही चर्चा की है जिन्हें 'अलंकार्य' के सिद्धान्त पुकारा जाता है, या जिन्हें मैंने उपयोगितावादी साहित्य-सिद्धान्तों की कोटि में रखा है। रस और ध्वनि के सिद्धान्त तो स्पष्ट रूप से ही और औचित्य का सिद्धान्त प्रकारान्तर से काव्यगत सामाजिक प्रयोजन का ही प्रतिपादन करते हैं, यद्यपि उनके प्रवर्तकों और व्याख्याकारों

को दार्शनिक दृष्टियां भाववादी (idealist) हैं। इन भाववादी दर्शनों के अनुसार जीवन का उद्देश्य सत्य, शिव और सौन्दर्य की प्रतीति करना है, लेकिन इस प्रतीति का चरम-साध्य है सुख-विधान, अर्थात् 'आनन्द' की उपलब्धि, जो समस्त मानव-जीवन का व्यापकतम लक्ष्य है। भरत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ—ये सभी काव्य को इस चरम जीवनोद्देश्य का कारण-साधन ही मानते हैं और मानव-प्रज्ञा द्वारा जगत की बाह्य प्रतीति करनेवाले शास्त्र-ज्ञान (विज्ञान) के समकक्ष ही कवि-प्रतिभा द्वारा रची गई काव्य (कला) सृष्टि को स्थान देते हैं, क्योंकि वह आभ्यन्तरिक जगत (प्रतीयमान अर्थआत्मतत्त्व) की प्रतीति और उसमे 'आनन्द' (रस) की प्राप्ति का साधन है। हमारा विचार है कि इन सिद्धान्तो द्वारा निरूपित काव्य और कला के सार्वभौम, काल-निरपेक्ष सौन्दर्य-नियमों (aesthetic laws) पर भाववादी दर्शनो (आधिभौतिक तत्त्वो 'ब्रह्म' आदि मे आनन्द का समीकरण आदि) का आवरण केवल काल-सापेक्ष कचुक है। जिस काल मे इन महान आचार्यों ने जीवन के प्रसंग मे रखकर काव्य-तत्त्व, काव्य-प्रक्रिया और काव्य के आस्वादन के गंभीर प्रश्नो की वस्तुपरक गवेषणा की, उस काल में सांख्य और शैव-दर्शन की दृष्टिया ही उन्हे इतनी व्यापक लगी, जिनके कोण से वे इन यथार्थ प्रक्रियाओं का समग्र रूप से वैज्ञानिक उन्मीलन कर सकते थे। इसमे आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि समस्त ज्ञान-विज्ञान और कला का जन्म और विकास भी आरंभ मे जादू-टोने और देवासुर कथा (magic and myth) मे ही हुआ है। अत ये सब देश-काल-सीमित चिन्तन की बाध्यताए थी। लेकिन इनके बावजूद भारतीय काव्य-चिन्तन में (कम-से-कम उपर्युक्त उपयोगितावादी सिद्धान्तो मे) पर्याप्त यथार्थवादिता रही, जिससे हमारे ये महान आचार्य काव्य-कला-सबधी कुछ ऐसे व्यापक और सार्वजनीन सौन्दर्य-सिद्धान्तो का विकास कर सके, जिनकी उद्भावना स्वतंत्र रूप मे पाश्चात्य साहित्य-चिन्तकों ने भी की है, या अब कर रहे हैं।

जो मेरे विचार में शास्त्रानुयायी (scholastic) रूपवादियों का दुराग्रह-मात्र है।

इसमें सन्देह नहीं कि भामह भरतमुनि के रस-सिद्धान्त से परिचित थे, क्योंकि महाकाव्य के लक्षण बताते हुए उन्होंने बड़े यांत्रिक ढंग से निर्देश किया है कि उसमें "लोक-स्वभाव का वर्णन हो और सभी रसों का पृथक् निरूपण हो।" लेकिन वे अलंकार को ही काव्य की आत्मा (अलंकार्य) मानते थे। भरतमुनि ने भी 'नाट्यशास्त्र' में उपमा (काव्य-रचनाओं में जो भी गुण और आकृति के सादृश्य से उपमित किया जाये, वह उपमा), रूपक (नाना द्रव्यों के संबंध से जो गुणाश्रय उपमा हुआ करती है, जिसमें रूप का सम्यक् वर्णन हो, वह रूपक), दीपक (भिन्न विषयोंवाले शब्दों का दीपक की भांति एक वाक्य द्वारा जहां संयोग होता हो, वह दीपक) और यमक (जहां शब्दों की पुनरावृत्ति हो, वह यमक) इन चार अलंकारों का, जिनमें से तीन अर्थालंकार हैं और एक शब्दालंकार, विवेचन करते हुए उन्हें नाट्य में वाचिक अभिनय के अंगभूत बताया था। इनके अतिरिक्त उन्होंने काव्य के दस गुणों (श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति) के उदाहरण देते हुए उनका रसाश्रित प्रयोग दिखलाया था। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य की वृत्तियों और प्रवृत्तियों (शैलियों) का भी वर्गीकरण किया था। उन्होंने भारती (प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख आदि नाट्य-प्रकार, जिनमें नाट्य प्रतिष्ठित है), सात्वती (उत्थापक, परिवर्तक, संलापक, संघात आदि भेदगत उदात्त शैली—grand style—जिसका संबंध दशरूपककार धनंजय ने शूरता, त्याग आदि से बताया है), आरभटी (संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन, संफेट आदि भेदगत ओजपूर्ण शैली—energetic style—जिसका संबंध दशरूपककार ने क्रोध, माया और इन्द्रजाल से बताया है), और कैशिकी (नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ भेदगत कान्त शैली—Graceful style—जिसका संबंध दशरूपककार ने गीत, नृत्य, विलास आदि शृंगारिक चेष्टाओं से बताया है), इन चार

निरूपण तो भरतमुनि ने भी किया था, लेकिन उन्होंने नाट्य (या काव्य) में इनका प्रयोग रसाश्रित, रसानुकूल और रस के उत्कर्ष के लिए ही आवश्यक माना था। इसके विपरीत भामह का विचार था कि काव्य-सौन्दर्य का एकमात्र विधायक तत्त्व 'अलंकार' है। 'सौन्दर्यमलंकारः', यह उनकी मान्यता है। उनके विचार में अलंकारों (आभूषणों) के अभाव में सुन्दर मुखवाली स्त्री भी 'विधवा'-जैसी दिखायी देती है। इसलिए उन्होंने भरतमुनि के बनाये चार अलंकारों की जगह काव्य में अड़तीस अलंकारों के भेद निर्दिष्ट किए[1] और प्रेयस, रसवत और ऊर्जस्वित अलंकारों की कल्पना करके रस-तत्त्व को भी अलंकार का ही एक रूप माना। भामह के अनुसार "शब्द और अर्थ ही मिलकर काव्य हुआ करता है" (शब्दार्थौ सहितं काव्यम्)। इसी के अनुरूप अलंकार भी दो प्रकार के होते हैं, शब्दालंकार

---

१. अंग्रेजी भाषा में अलंकारों की संख्या कुल दस है। इनमें भी अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों की संख्या ही ज्यादा है। इसके विपरीत, भामह के बाद संस्कृत के आलंकारिकों ने, दुर्भाग्य से, शब्द और अर्थ-प्रयोग के हर रूप का अलंकारों की कोटि में वर्गीकरण करने की ऐसी हास्यास्पद तत्परता दिखायी कि भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट चार अलंकारों की संख्या बढ़कर अप्पय दीक्षित (सत्रहवीं शती का अन्त) के ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' में एक सौ पच्चीस तक पहुंच गई। इसको हमारे शास्त्रानुयायी विद्वान सूक्ष्मदर्शिनी भारतीय दृष्टि का चमत्कार समझते हैं, जबकि वर्गीकरण की इस अतिवादी (एक प्रकार से pathological) प्रवृत्ति ने सदियों से भारतीय आलोचना को एक तमाशा बना रखा है। हर वाक्य या पंक्ति में चार-छः अलंकारों की टोह करनेवाला आलोचक कृति के मर्म को नहीं देख सकता। इसके अलावा इन एक सौ पच्चीस अलंकारों में से अधिकतर अर्थालंकार हैं। यानी अर्थ की प्रतीति भी खंड-खंड करके विभिन्न अलंकारों की अवस्थिति दिखाकर ही की जाय। इसमें सन्देह नहीं कि रूपवादी सम्प्रदायों में सबसे संकीर्ण दृष्टि अलंकार-सम्प्रदाय की है।

(कान्ति) गुण रसयुक्त को ही कहते हैं', इस स्थापना द्वारा उन्होंने माधुर्य (कान्ति) को 'सभी रसों में समाहित सत्ता का स्वरूप' दिया है। तीसरे, उन्होंने भामह के विपरीत (जिन्होंने वैदर्भी और गौडी, काव्य की दोनो शैलियों को एक ही माना था) दो पृथक काव्य-मार्गों (शैलियां, रीतियां)—वैदर्भी और गौडी—का निरूपण करते हुए बताया कि भरत-प्रवर्तित सभी (दस) गुण वैदर्भी शैली मे मिलते हैं, जिससे वह श्रेष्ठ मार्ग है और गौडी शैली में इन सभी गुणों का विपर्यय मिलता है जिससे वह निकृष्ट मार्ग है। विशिष्ट पद-रचना (शैली या रीति) मे गुणो का इतना महत्व भामह ने नही स्वीकार किया था, यद्यपि गुणों को दण्डी भी अलकार से अभिन्न नही मानते। उनकी दृष्टि मे भी काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्म (विशिष्ट गुण) अलंकार ही हैं। दण्डी ने वक्रोक्ति को उतना महत्व नही दिया जितना भामह ने दिया था। उन्होंने 'अतिशयोक्ति' को सभी अलंकारों का 'परम आश्रय' कहा, और वक्रोक्ति को उसके अन्तर्गत ही माना। उन्होंने 'श्लेष' को सब वक्रोक्तियों (वचन-भंगिमा-युक्त अलंकारों) की शोभा मे अभिवृद्धि करने-वाला अलंकार बताया। 'वक्रोक्ति' (वस्तु का अलंकार-युक्त वर्णन) के साथ ही 'स्वभावोक्ति' (वस्तु का स्वाभाविक रूप से वर्णन) को भी उन्होंने काव्य का एक प्रकार माना।

भट्टउद्भट

नवी शती मे भट्टउद्भट और रुद्रट, अलकार-सम्प्रदाय के दो और आचार्य हुए। आचार्य वामन को हम अलंकार-सम्प्रदाय मे इसलिए नही गिन रहे, क्योकि वे आलंकारिक होते हुए भी रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। उद्भट ने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में अलंकार-संबंधी भामह और दण्डी की मान्यताओं और विवेचन को स्वीकार करते हुए गुण और अलंकार मे भेद किया। उन्होंने कहा कि 'गुण और अलकार (समान रूप से ही) चारुत्व के हेतु हैं। इनमें केवल विषय या आश्रय का ही भेद है—गुण संघटना (रचना, रीति) के आश्रित हैं तो अलंकार शब्दार्थ के।' उन्होंने

(कान्ति) गुण रसयुक्त को ही कहते हैं', इस स्थापना द्वारा उन्होंने माधुर्य (कान्ति) को 'सभी रसों मे समाहित सत्ता का स्वरूप' दिया है। तीसरे, उन्होंने भामह के विपरीत (जिन्होंने वैदर्भी और गौडी, काव्य की दोनो शैलियों को एक ही माना था) दो पृथक काव्य-मार्गों (शैलियां, रीतियां)—वैदर्भी और गौडी—का निरूपण करते हुए बताया कि भरत-प्रवर्तित सभी (दस) गुण वैदर्भी शैली मे मिलते हैं, जिससे वह श्रेष्ठ मार्ग है और गौडी शैली में इन सभी गुणों का विपर्यय मिलता है जिससे वह निकृष्ट मार्ग है। विशिष्ट पद-रचना (शैली या रीति) मे गुणो का इतना महत्व भामह ने नही स्वीकार किया था, यद्यपि गुणों को दण्डी भी अलकार से अभिन्न नही मानते। उनकी दृष्टि मे भी काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्म (विशिष्ट गुण) अलंकार ही हैं। दण्डी ने वक्रोक्ति को उतना महत्व नही दिया जितना भामह ने दिया था। उन्होंने 'अतिशयोक्ति' को सभी अलंकारों का 'परम आश्रय' कहा, और वक्रोक्ति को उसके अन्तर्गत ही माना। उन्होने 'श्लेष' को सब वक्रोक्तियों (वचन-भंगिमा-युक्त अलंकारो) की शोभा मे अभिवृद्धि करने-वाला अलंकार बताया। 'वक्रोक्ति' (वस्तु का अलंकार-युक्त वर्णन) के साथ ही 'स्वभावोक्ति' (वस्तु का स्वाभाविक रूप से वर्णन) को भी उन्होने काव्य का एक प्रकार माना।

भट्टउद्भट

नवी शती में [illegible] ...सम्प्रदाय के दो और [illegible] में इसलिए नही रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। [illegible] और दण्डी [illegible] गुण और अलंकार मे [illegible] (समान रूप से ही) का ही भेद है—गुण [illegible] शब्दार्थ के।' उन्होंने

और अर्थालंकार। भामह ने गुणों की भी चर्चा की, लेकिन गुणों को उन्होंने अलंकार ही माना। एक सराहनीय काम उन्होंने यह अवश्य कि भरत-प्रतिपादित दस गुणों का केवल तीन ही गुणों—माधुर्य, और प्रसाद—के अन्तर्गत समावेश कर दिया। वार्ता (इतिवृत्त विवरण या स्वभावोक्ति) और काव्य में भेद करते हुए भामह ने काव्य अभिव्यक्ति की विशिष्ट प्रणाली भी माना है, जिसका अभिधान सीमा का अतिक्रमण करनेवाली अतिशयोक्ति द्वारा सम्पन्न होता इस प्रकार अलंकारों के विधान में वचन में जो अतिशयता पैदा होती उनके अनुसार वह "सारी अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। इससे चमत्कृत हो जाता है।" भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति में ही काव्यत्व वार्ता (या स्वभावोक्ति) में नहीं। उनके इस वाक्य से कि "वक्र शब्द अर्थ की उक्ति ही वाणी का काम्य अलंकार है" यह निष्कर्ष नि जा सकता है कि भामह वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूलभूत म थे, न कि अन्य अलंकारों में से एक, जैसा कि अन्य आलंकारिकों ने सम आगे चलकर कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विकास भामह की मान्यता के आधार पर ही किया। इस प्रकार भामह ने 'अलंकार' शब्द व्यापक अर्थ देकर रस, गुण, रीति और वक्रोक्ति इन सभी को उसके अं ग्रहण किया था। भामह केवल मीमांसक थे, काव्य-(या साहित्य) नहीं। इसलिए उनकी दृष्टि काव्य के केवल बाह्यांगों पर ही गयी। इन बाह्यांगों के विवेचन में भी उनके दृष्टिकोण की यांत्रिकता स्पष्ट है

दण्डी

भामह के बाद दण्डी (सातवीं शती का उत्तरार्ध) ने अपने 'काव्या में अलंकार-सिद्धान्त का विकास किया। उनकी दृष्टि भी उतनी ही यां है, जितनी भामह की। भामह के अलंकार-विवेचन में उन्होंने थोड़ा है ही किया है। एक तो उन्होंने दृश्य-काव्य के अन्तर्गत लास्य, छलित सम्या आदि नृत्य-प्रकारों को अलग से स्थान दिया है। दूसरे, 'भ

(कान्ति) गुण रसयुक्त को ही कहते हैं', इस स्थापना द्वारा उन्होंने माधुर्य (कान्ति) को 'सभी रसों मे समाहित सत्ता का स्वरूप' दिया है। तीसरे, उन्होंने भामह के विपरीत (जिन्होंने वैदर्भी और गौडी, काव्य की दोनो शैलियों को एक ही माना था) दो पृथक काव्य-मार्गों (शैलिया, रीतियां)—वैदर्भी और गौडी—का निरूपण करते हुए बताया कि भरत-प्रवर्तित सभी (दस) गुण वैदर्भी शैली मे मिलते है, जिससे वह श्रेष्ठ मार्ग है और गौडी शैली में इन सभी गुणो का विपर्यय मिलता है जिससे वह निकृष्ट मार्ग है। विशिष्ट पद-रचना (शैली या रीति) मे गुणो का इतना महत्व भामह ने नही स्वीकार किया था, यद्यपि गुणों को दण्डी भी अलंकार से अभिन्न नही मानते। उनकी दृष्टि में भी काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्म (विशिष्ट गुण) अलंकार ही हैं। दण्डी ने वक्रोक्ति को उतना महत्व नही दिया जितना भामह ने दिया था। उन्होंने 'अतिशयोक्ति' को सभी अलंकारो का 'परम आश्रय' कहा, और वक्रोक्ति को उसके अन्तर्गत ही माना। उन्होंने 'श्लेष' को सब वक्रोक्तियों (वचन-भंगिमा-युक्त अलंकारो) की शोभा मे अभिवृद्धि करनेवाला अलंकार बताया। 'वक्रोक्ति' (वस्तु का अलंकार-युक्त वर्णन) के साथ ही 'स्वभावोक्ति' (वस्तु का स्वाभाविक रूप से वर्णन) को भी उन्होंने काव्य का एक प्रकार माना।

भट्टउद्भट

नवी शती में भट्टउद्भट और रुद्रट, अलंकार-सम्प्रदाय के दो और आचार्य हुए। आचार्य वामन को हम अलंकार-सम्प्रदाय में इसलिए नहीं गिन रहे, क्योंकि वे आलंकारिक होते हुए भी रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। उद्भट ने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' मे अलंकार-सबधी भामह और दण्डी की मान्यताओ और विवेचन को स्वीकार करते हुए गुण और अलंकार मे भेद किया। उन्होंने कहा कि 'गुण और अलंकार (समान रूप से ही) चारुत्व के हेतु हैं। इनमें केवल विषय या आश्रय का ही भेद है—गुण संघटना (रचना, रीति) के आश्रि हैं तो अलंकार शब्दार्थ के।' उन्होंने

एक प्रकार से दण्डी के अभिप्राय को ही प्रकाश किया और पहली बार रीति और गुण के पारस्पर-संबंध का निर्देश किया। 'शब्दार्थ' से उनका तात्पर्य सभी आलंकारिकों की तरह वाच्य-अर्थ ही था, जिसकी अभिधा-व्यापार द्वारा प्रतीति की जाती है। उद्भट के अनुसार शब्द का अभिप्राय (वाच्यार्थ) ही मुख्य है और अमुख्य (गौण) भी।

रुद्रट

रुद्रट ने, जो संभवत: ध्वनिकार आनन्दवर्धन से कुछ पहले हुए थे, अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में अलंकार-शास्त्र के सभी तत्त्वों का विस्तार से निरूपण किया। लेकिन वे भामह, दण्डी और वामन के ही अनुयायी हैं। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने पांच प्रकार के शब्दालंकार और चार प्रकार के अर्थालंकार निर्दिष्ट किए और फिर उनके भेद गिनाये। इस प्रकार चार अर्थालंकारों के ही छियासठ भेद उन्होंने निरूपित किए। उन्होंने 'वास्तव' (वस्तु के स्वरूप का वर्णन करनेवाला) को भी अलंकार माना और उसके तेईस भेद बताये। इनमें से एक भेद 'भाव' भी है। अलंकार-शास्त्र में प्रतीयमान अर्थ का विवेचन नहीं होता, इस स्थिति से खिन्न होकर ही उन्होंने 'भाव' नाम के अलंकार की कल्पना की। इन प्रमुख अलंकारवादी आचार्यों के ग्रन्थों के टीकाकारों और भाष्यकारों की संख्या बहुत लम्बी है। लेकिन अलंकार-सिद्धान्त में से रीति और वक्रोक्ति को लेकर जब नये सिद्धान्त उठ खड़े हुए तो आलंकारिकों के सामने अलंकारों की ऊहापोह, वर्गीकरण, लक्षण-निरूपण और दृष्टान्त-चयन के सिवा और कोई काम नहीं रहा। फिर भी आश्चर्य है कि संस्कृत आलोचना में और फिर आधुनिक भारतीय भाषाओं की मध्यकालीन आलोचना में इस कार्य की इतनी अधिक आवृत्ति और पुनरावृत्ति हुई है। एक दीर्घ काल तक यह आलोचकों और कवियों का व्यसन बना रहा है। अलंकारवादी आचार्यों के सामने साहित्य या कला का कभी कोई व्यापक सामाजिक, नैतिक अथवा सौन्दर्यानुभूति-संबंधी उद्देश्य नहीं रहा। काव्य के अनुशीलन से 'चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है,

र्वाव अपनी या राजा की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिए या राजाओं के मूर्ख पुत्रों को मनोरंजक ढग से शिक्षा देने के लिए' काव्य की रचना मे प्रवृत्त होता है, इस तरह के स्थूल उद्देश्य और काव्य-प्रयोजन एक प्रकार से सभी ने दुहराये है, किन्तु जैसे प्रथा-पालन के लिए ही। साहित्य-तत्त्व की कोई गहरी चेतना या मानव-जीवन और साहित्य में उसके रूपायन का कोई व्यापक आशय आलंकारिकों की काव्य-दृष्टि मे हमे नहीं मिलता।[1]

---

१. भारतीय अलंकार-सम्प्रदाय की इतनी कड़ी आलोचना करने का एकमात्र कारण यह है कि उसके प्रवर्तको और अनुयायियों ने 'अलंकार' को काव्य की 'आत्मा' का स्थानापन्न बनाने को कोशिश की, साधन को साध्य मानने की। दुनिया की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें अलंकृत भाषा का प्रयोग न होता हो—साधारण बोलचाल में या काव्य और साहित्य में। वस्तुतः जन-कंठ में ही अलंकारों का विकास हुआ है, क्योंकि अन्तरस्थ भावों और विचारों को प्रेषित करने के लिए उनके चित्रात्मक मूर्तीकरण की समस्या मानव-मात्र के लिए सामान्य रही है। इसी तरह कोई ऐसी भाषा (साहित्य-सम्पन्न) नहीं है, जिसके विद्वानों ने उसमें प्रयुक्त अलंकारों का स्वरूप-निरूपण और वर्गीकरण न किया हो। लेकिन अलंकार के लिए साहित्य या काव्य की 'आत्मा' का सिंहासन छीनने का हास्यास्पद उपक्रम हमारे यहां के आलंकारिकों ने ही किया है! इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार (figures of speech) काव्य और साहित्य की भाषा के आवश्यक ही नहीं अनिवार्य अंग हैं—साधारण बोलचाल की भाषा के भी, क्योंकि काव्य-भाषा उसका ही परिष्कृत, मूर्त, संक्षेपित और अधिक प्रभावकारी रूप होती है। इसी लिए बोलचाल में जहां अलंकृत भाषा का प्रयोग सहज और स्वाभाविक होता है, काव्य या साहित्य में सोद्देश्य होता है, क्योंकि किसी विशिष्ट भाव-विचार (अनुभव) या प्रतिक्रिया को प्रभावी रूप में प्रेषित करने के लिए कवि चित्र-विधान का आश्रय लेने के लिए बाध्य होता है। भामह का यह मत ठीक है कि स्वभावोक्ति (इतिवृत्तात्मक-

यदि अपनी या राजा की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिए या राजाओं के मूर्ख पुत्रों को मनोरंजक ढंग से शिक्षा देने के लिए' काव्य की रचना में प्रवृत्त होता है, इस तरह के स्थूल उद्देश्य और काव्य-प्रयोजन एक प्रकार से सभी ने दुहराये हैं, किन्तु जैसे प्रथा-पालन के लिए ही। साहित्य-तत्त्व की कोई गहरी चेतना या मानव-जीवन और साहित्य में उसके रूपायन का कोई व्यापक आशय आलंकारिकों की काव्य-दृष्टि में हमें नहीं मिलता।[1]

---

१. भारतीय अलंकार-सम्प्रदाय की इतनी कड़ी आलोचना करने का एकमात्र कारण यह है कि उसके प्रवर्तकों और अनुयायियों ने 'अलंकार' को काव्य की 'आत्मा' का स्थानापन्न बनाने की कोशिश की, साधन को साध्य मानने की। दुनिया की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें अलंकृत भाषा का प्रयोग न होता हो—साधारण बोलचाल में या काव्य और साहित्य में। वस्तुतः जन-कंठ में ही अलंकारों का विकास हुआ है, क्योंकि अन्तरस्थ भावों और विचारों को प्रेषित करने के लिए उनके चित्रात्मक मूर्तीकरण की समस्या मानव-मात्र के लिए सामान्य रही है। इसी तरह कोई ऐसी भाषा (साहित्य-सम्पन्न) नहीं है, जिसके विद्वानों ने उसमें प्रयुक्त अलंकारों का स्वरूप-निरूपण और वर्गीकरण न किया हो। लेकिन अलंकार के लिए साहित्य या काव्य की 'आत्मा' का सिंहासन छीनने का हास्यास्पद उपक्रम हमारे यहां के आलंकारिकों ने ही किया है! इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार (figures of speech) काव्य और साहित्य की भाषा के आवश्यक ही नहीं अनिवार्य अंग हैं—साधारण बोलचाल की भाषा के भी, क्योंकि काव्य-भाषा उसका ही परिष्कृत, मूर्त, संक्षेपित और अधिक प्रभावकारी रूप होती है। इसी लिए बोलचाल में जहां अलंकृत भाषा का प्रयोग (सहज और स्वाभाविक होता है, काव्य या साहित्य में सोद्देश्य होता है, क्योंकि किसी विशिष्ट भाव-विचार (अनुभव) या प्रतिक्रिया को प्रभावी रूप में प्रेषित करने के लिए कवि चित्र-विधान का आश्रय लेने के लिए बाध्य होता है। भामह का यह मत ठीक है कि स्वभावोक्ति (इतिवृत्तात्मक-

: ७ :

रीति-सिद्धान्त

वामन

आचार्य वामन (नवीं शती का आरंभ) भी मूलतः अलंकारवादी आचार्य ही हैं, लेकिन चूंकि उन्होंने पहली बार स्पष्ट रूप में निरूपण करके रीति को ही काव्य की आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) माना, इसलिए वे रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके अनुसार रीति गुण-विशिष्ट पद-रचना (अर्थात् शैली) है। भामह-दण्डी आदि ने गुणों को अलंकारों में ही सन्निविष्ट कर दिया था, लेकिन वामन ने अलंकार से गुणों को पृथक् करके उनका रीति के साथ संबंध जोड़ा। उनके अनुसार किसी रचना में गुणों के कारण ही विशेषता होती है, इसलिए रीति गुणों पर ही निर्भर करती है। इसी कारण कुछ लोग रीति-सिद्धान्त को गुण-सिद्धान्त के नाम

विवरण) काव्य नहीं 'वार्ता' होती है और वक्रोक्ति सभी अलंकारों का मूलभूत है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अलंकार भाषा पर ऊपर से लादे हुए आभूषण हैं (जिनके बिना सुन्दर मुखवाली स्त्री भी 'विधवा' नजर आती है)। आनन्दवर्धन ने इसी संकीर्णता के जवाब में कहा कि 'ध्वनि' (लावण्य) होने पर स्वभावोक्ति (अनलंकृत रचना) भी काव्य हो सकती है; और हम व्यंग्यपूर्वक कह सकते हैं कि भामह को शायद आधुनिक युग की सब नारियां 'विधवा' ही नजर आतीं। अलंकार काव्य के आत्म-तत्त्व नहीं हैं कि साहित्यालोचन का काम किसी पद्य या वाक्य में अलंकारों की छानबीन तक ही सीमित कर दिया जाय। भाव या विचार को चित्रात्मक मूर्तता अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग से ही दी जाती है, तभी उसमें उक्ति-चमत्कार, चारुत्व और प्रभविष्णुता पैदा होती है। लेकिन यह काव्य या साहित्य की भाषा की सिर्फ पहली शर्त है। कारणभूत उपकरण-मात्र।

से भी पुकारते हैं। भामह के समय मे, लगता है, वैदर्भी और गौडी इन दो रीतियों की आलंकारिको मे मान्यता थी। दण्डी ने भी इन दो रीतियों का ही उल्लेख किया है। वामन ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली इन तीन रीतियों का निरूपण किया और उनके गुण-विशिष्ट रूप का विवेचन भी किया। देशविशेष (विदर्भ, गौड और पांचाल) के आधार पर इन रीतियों का नामकरण किया गया अवश्य है, लेकिन वामन का कहना है कि "विदर्भादि देशों में आविष्कृत होने से (रीतियां की देशों के नाम से) वह संज्ञाएं रखी गई हैं"।[1] उनके अनुसार गुणों के भेद से इन रीतियों का भेद

---

१. मेरा विचार है कि एक मूलभूत ग़लती के कारण भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति-विचार को परम्परा आरंभ से ही पथ-भ्रष्ट हो गई और फिर कभी सही मार्ग पर नहीं आ सकी। इसलिए रीति-सिद्धान्त में वस्तु-निरूपण से ज्यादा अटकलबाज़ी मिलती है और ग़लत प्रश्नों के ग़लत समाधान खोजे गये हैं। हम पहले बता चुके हैं कि भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में चार नाट्य-वृत्तियों और उनसे संबद्ध पांच नाट्य-प्रवृत्तियों का उल्लेख किया था। उन्होंने रीति (या शैली) का नाम नहीं लिया, यद्यपि व्यापक अर्थ में ये पांच नाट्य-प्रवृत्तियां—आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी, पांचाली और मध्यमा—देश के विभिन्न भागों में प्रचलित नाट्य-शैलियां ही थीं, जिस तरह आज भी नृत्य या संगीत की अनेक शैलियां (विभिन्न प्रदेशों की लोक-परम्परा में ही नहीं बल्कि शास्त्रीय-परम्परा में भी) प्रचलित हैं, जैसे मनीपुरी नृत्य या कर्नाटकी संगीत आदि। लेकिन सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से ये वास्तव में प्रवृत्तियां हैं, शैलियां नहीं। छायावाद, यथार्थवाद आदि साहित्य की शैलियां नहीं, प्रवृत्तियां हैं, यद्यपि साधारण बोलचाल में उन्हें शैलियों के नाम से भी पुकारा जाता है। रीति या शैली केवल गुण-विशिष्ट पद-रचना नहीं है, बल्कि ऐसी पद-रचना है जो एक साथ ही लेखक (या कलाकार) के अन्तरस्थ भाव और विचार को भी व्यक्त करे और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व को भी। शैली हमेशा लेखक के व्यक्तित्व

५

होता है। उदाहरण के लिए समस्त गुणों (दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों)—ओज, प्रसाद आदि से युक्त रीति का नाम वैदर्भी रीति है, इसी लिए यह रीति सबसे श्रेष्ठ है। वाणी का मधुरस 'वैदर्भी' रीति से ही स्रवित होता है। गौडी रीति केवल दो गुणों—ओज और कान्ति—से युक्त होती है, और माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव में यह शैली समासबहुल और अत्यन्त उग्र पदोंवाली होती है। इसके विपरीत, माधुर्य और सौकु-

---

की भी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए जितने लेखक या कलाकार हैं या हुए हैं, उतनी ही शैलियां हैं, क्योंकि कोई भी दो व्यक्तित्व एकदम समान नहीं होते। पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी, सभी प्रवृत्ति से छायावादी कवि हैं, लेकिन उनकी शैलियां अपनी-अपनी हैं, उनके व्यक्तित्वों से अभिन्न हैं। यह ठीक है कि विशिष्ट होते हुए भी हर व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तित्वों के साथ अनेक समानताएं होती हैं—यह स्वाभाविक ही है। इसी तरह साहित्य और कला की अनन्त शैलियों में भी बाह्य-समानताओं के आधार पर कुछ स्थूल वर्गों का निरूपण किया जा सकता है। गुणों के आधार पर ओजपूर्ण, कान्त, प्रसाद शैली का भेद हम कर सकते हैं। और आधारों पर हम मूर्त, अमूर्त, वैज्ञानिक, साहित्यिक, भावुक, उदात्त, प्रगल्भ, जर्नलिस्टिक, सरस, नीरस, हास्य, व्यंग्य, आत्मीय, मार्मिक, स्थूल, सूक्ष्म—इस तरह के चाहे जितने वर्ग स्थापित कर सकते हैं। लेकिन लेखक के व्यक्तित्व (रचना में व्यक्त उसकी संवेदना, भाव-विचार-प्रतिक्रिया, बौद्धिक चेतना और अनुभूति की विशिष्टता) की अवहेलना करनेवाले रीति या शैली के ये सभी वर्गीकरण स्थूल ही समझे जाने चाहिए। शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, चित्र-विधान, लय, भाव-विचारों का अन्तर्सामंजस्य, वैशिष्ट्य, गुण, संगति आदि पद-रचनागत इन बाह्य-तत्त्वों के विवेचन के साथ प्रत्येक लेखक की व्यक्तित्वगत विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन भी जरूरी है, ताकि अन्य सभी लेखकों से उसकी विशिष्टता का निर्धारण करके उसकी कृति का सम्यक् रूप में मूल्यांकन किया जा सके। दुर्भाग्य से वामन या अन्य

मार्य केवल इन दो गुणों से युक्त रीति 'पांचाली' कहलाती है। इस प्रकार ओज और कान्ति-विहीन पांचाली रीति गाढ़बन्ध से रहित और शिथिल पदवाली होती है। समस्त गुणों से युक्त होने के कारण वैदर्भी रीति ही श्रेष्ठ कवियों को प्रिय होती है, क्योंकि उसमें अर्थ-गुणों का वैभव आस्वाद्य होता है। उसमें निबद्ध होने पर शब्द-सौन्दर्य थिरकने लगता है, नीरस वस्तु भी सरस और तुच्छ और असत् वस्तु भी अलौकिक चमत्कारमय-सी प्रतीत होती है। यह है वामन के रीति-सिद्धान्त का सार। एक बार

रीतिवादियों के सामने शैली या रीति का इतना व्यापक दृष्टिकोण नहीं रहा। नाट्य-शास्त्र से अलग होकर जब स्वतंत्र रूप से काव्य-शास्त्र का विकास हुआ तो आरंभ के आलंकारिकों ने भरत-निरूपित नाट्य-प्रवृत्तियों के भेद को काव्य या साहित्य की शैलियों पर ज्यों-का-त्यों घटित कर दिया। रीति-विचार की परम्परा इस तरह आरंभ से ही पथ-भ्रष्ट हो गई और परवर्ती आचार्य उसे वामन की बांधी सीमाओं से बाहर नहीं निकाल सके। रीतियां तीन होती हैं, चार या छः ? उनका गुण से संबंध है या गुण रीतियों से स्वतंत्र हैं ? किस रीति में कौन-से वर्णों का अधिक प्रयोग होता है ?—सारा रीति-विवेचन इन आनुषंगिक और स्थूल प्रश्नों तक ही सीमित हो गया। "कथन की अनन्त शैलियां हैं", आनन्दवर्धन के इस निर्देश का आलंकारिकों की तरह परवर्ती रीतिवादियों ने भी महत्व नहीं समझा। पाश्चात्य साहित्य में रीति-चर्चा क्या कभी इस तरह के निरूपणों के सहारे चली है कि काव्य या साहित्य की तीन या चार शैलियां होती हैं, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, स्पहानवी और यूनानी ? फिर इनका आधार गुणों को बताना तो और भी हास्यास्पद लगता है। वामन ने दस अर्थ और दस शब्द-गुणों की सत्ता मानी। वैदर्भी में दस, गौड़ी में दो और पांचाली में दो गुणों की स्थिति बतायी। लेकिन बीस गुणों से गणित के संयोग और क्रम-संचय की क्रिया द्वारा सैकड़ों रीतियां बनायी जा सकती हैं, फिर तीन या चार ही क्यों ?

होता है। उदाहरण के लिए समस्त गुणों (दस शब्द
गुणों)—ओज, प्रसाद आदि से युक्त रीति का नाम
लिए यह रीति सबसे श्रेष्ठ है। वाणी का मधुरस 'वं
होता है। गौडी रीति केवल दो गुणों—ओज और
है, और माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव में
और अत्यन्त उग्र पदोंवाली होती है। इसके लि

की भी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए जितने ले
हैं, उतनी ही शैलियां हैं, क्योंकि कोई भी दो

को उन्होंने 'लाटी' रीति बताया। लेकिन इससे रीति-सिद्धान्त का महत्व घटा ही, बढ़ा नहीं।

रीति-सिद्धान्त के इस संक्षिप्त परिचय से भी स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य में रीति या शैली के महत्वपूर्ण प्रश्न को रीतिवादी आचार्यों ने न तो ठीक से समझा ही और न ठीक से पेश ही किया। वामन वैयाकरण थे, साहित्य-मर्मज्ञ नहीं। जिस यांत्रिक और संकीर्ण ढंग से भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति का विवेचन हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। शायद यही कारण है कि रीति-सिद्धान्त का आगे विकास नहीं हो सका यद्यपि हिन्दी में कई शताब्दियों तक रीतिवादी कवियों की एक लम्बी परम्परा भी चलती रही।

: ८ :

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

कुन्तक

रूपवादी सिद्धान्तों में आचार्य कुन्तक (दसवीं शताब्दी का अंत—ग्यारहवीं का आरंभ) के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। कुन्तक का दृष्टिकोण भामह, दण्डी या वामन की अपेक्षा कहीं ज्यादा व्यापक और उदार है। वे सचमुच पहले और दुर्भाग्य से अन्तिम आलंकारिक हैं, जिनका दृष्टिकोण एकांगी और यान्त्रिक न होकर समग्रतावादी है। काव्य-प्रयोजन के संबंध में तो उन्होंने घिसी-पिटी बातें ही कहीं, लेकिन वे सच्चे काव्य-मर्मज्ञ थे, इसलिए उन्होंने ही पहली बार 'काव्य में अलंकार और अलंकार्य' का भेद समझाते हुए बताया कि सुविधा के लिए ही काव्य-शास्त्र में पृथक्-पृथक् करके दोनों (अलंकार्य शब्द-अर्थ तथा अलंकार) का विवेचन किया जाता है, ताकि काव्य के सामान्य और विशेष

अंगों का स्वतन्त्र विश्लेषण किया जा सके। अन्यथा कुन्तक के मत से का की दृष्टि से इन तीनों की अलग अलग सत्ता नहीं है। बल्कि उनकी सम का नाम ही काव्य है, व्यष्टि का कोई महत्त्व नहीं है। अलंकार-अलं शब्द और अर्थ—तीनों की समष्टि ही काव्य है। इसलिए तीनों का अल अलग विवेचन उचित नहीं है, यद्यपि अलग-अलग विवेचन से का सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है। यह एक महत्त्व सौन्दर्य-नियम (aesthetic law) है, जिसे भरत-परवर्ती आलंकारिक भू चुके थे।

कुन्तक वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनसे बहुत पह भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूलभूत कहा था। दण्डी भी एक प्रकार से भामह का ही समर्थन किया था, यद्यपि वामन में अति वक्रोक्ति को अधिक प्रधानता दी थी। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त औ वामन आदि आचार्यों ने भी वक्रोक्ति के संबंध में भामह की मान्यताओं का ही विश्लेषण किया। रुद्रट वक्रोक्ति की व्यापकता से परिचित अवश्य थे, लेकिन उन्होंने भी इसको एक अलंकार ही माना। कुन्तक पहले आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विस्तार से निरूपण किया। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में वक्रोक्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि "वक्रोक्ति ही शब्द और अर्थ दोनों का एकमात्र अलंकार है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है।" कवि अपने कौशल और प्रतिभा से उक्ति में अभिव्यंजनामूलक वैदिग्ध्य भर देते हैं। उनकी यह असाधारण प्रकार की वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है। "वैदिग्ध्य-भंगी भणिति" (चमत्कारपूर्ण या रमणीय वर्णन-शैली), कुन्तक की यह स्थापना है। विदग्धता में सौन्दर्य, चमत्कार, रमणीयता, आह्लादकारिता आदि का भाव निहित है। इस प्रकार वक्रोक्ति को ही एकमात्र अलंकार और काव्यत्व के रूप में प्रतिष्ठित करके कुन्तक ने समस्त काव्य-व्यापार में वक्रोक्ति का विस्तार दिखाया। उन्होंने वक्रोक्ति के छः प्रकार निरूपित किए—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, (३) प्रत्यय-

वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। इनके अन्तर्गत ही अलंकार, रीति, रस और ध्वनि की वक्रता भी सम्मिलित है। तात्पर्य यह कि कुन्तक ने यद्यपि कहीं भी अन्य रूपवादी आचार्यों की तरह काव्य की आत्मा के स्थान पर वक्रोक्ति को जबरन प्रतिष्ठित करने की कोशिश नहीं की, लेकिन उन्होंने वाग्वैचित्र्य से लेकर रसवैचित्र्य और महाकाव्यवैचित्र्य तक वक्रोक्ति का ही व्यापार दिखाया है। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा कि ऊपर से तो यही दीखता है कि रामायण मे अन्य वक्रताओ के सयोग से एक सुन्दर महापुरुष का वर्णन किया गया है; लेकिन वास्तव मे कवि का प्रयोजन केवल वर्णन करना-भर नही है, बल्कि "राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं", इस प्रकार का विधि और निषेधात्मक उपदेश उस प्रबंध-काव्य या नाटक का फलितार्थ है। यही इस काव्य की वक्रता या सौन्दर्य है। यहां पर वक्रता व्यग्यार्थ का रूप ले लेती है। 'स्वभावोक्ति भी एक अलंकार है', दण्डी के इस मत का खडन करते हुए कुन्तक ने तर्क दिया कि स्वभावोक्ति तो अलकार्य है, इसलिए कभी अलंकार नही हो सकती। काव्य या साहित्य में स्वभाव (स्वरूप, जिससे पदार्थ का कथन और ज्ञान-रूप व्यवहार होता है) ही का वर्णन होता है। स्वभाव काव्य का शरीर-स्थानीय है, इसलिए शरीर ही यदि अलंकार हो जाय तो वह दूसरे किसको अलंकृत करेगा ?

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'—काव्य की इस व्याख्या को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने कहा कि वैसे तो सभी वाक्यों में शब्द और अर्थ का सहभाव रहता है, लेकिन काव्य में उनका विशिष्ट सहभाव अभिप्रेत है, ऐसा सहभाव जिसमें वक्रता (सौन्दर्य) हो, तभी उसमे रमणीयता आती है और काव्य-मर्मज्ञों के लिए वह आनन्ददायक होता है। शब्द और अर्थ के सहभाव मे यदि कमी हो—यानी अर्थ को भली प्रकार प्रकाशित करनेवाले समर्थ शब्द का अभाव हो तो (उत्तम चमत्कारी) अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है, और शब्द भी वाक्योपयोगी (चमत्कारी)

अर्थ के अभाव में (किसी साधारण) अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत-सा प्रतीत होने लगता है। प्रतिभा के दारिद्र्य और दैन्य के कारण किसी कवि के पास अगर कहने योग्य कोई सुन्दर वस्तु (content) नहीं है तो कोरा शब्द-सौन्दर्य, वक्रता (चमत्कार) के बावजूद ग्राम्य और रद्दी होता है। इसी तरह शोभातिशय से रहित वस्तुमात्र को काव्य के नाम से नहीं पुकारा जा सकता, वह शुष्क तर्क वाक्य की तरह अमूर्त और नीरस होता है। वह काव्य-मर्मज्ञ के हृदय में रमणीय चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकता, इसलिए सहृदय-संवेद्य नहीं होता। कुन्तक के इस विवेचन में व्यापक सौन्दर्य-नियमों का निरूपण हुआ है। वक्रोक्ति को ही एकमात्र अलंकार और वर्णन-शैली (रीति) मानकर उन्होंने कवि और पाठक दोनों को आलंकारिकों की यान्त्रिक वर्गीकरण की रूढ़िबद्ध शास्त्रीय परम्परा के कठोर बन्धनों से मुक्ति दिलाने की कोशिश की, लेकिन बाद के आलंकारिकों की संकीर्ण दृष्टि इसको बर्दाश्त नहीं कर सकी—रुय्यक, समुद्रबंध आदि ने उनका विरोध ही किया। इसके अलावा चूंकि कुन्तक ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी थे और उन्होंने रस और ध्वनि को भी वक्रोक्ति में ही समेटने की गलत चेष्टा की थी, इसलिए विश्वनाथ-जैसे रसाचार्यों ने भी उनके सिद्धान्त का खंडन ही किया। इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त के एकमात्र प्रवर्तक और समर्थक कुन्तक ही हैं। यह एक विचित्र-सी बात है कि रूप-तत्त्व का विवेचन करनेवाला, अकेला वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्य आलंकारिकों की संकीर्णता और लक्षण-प्रियता के कारण विकास नहीं कर सका। कुन्तक के सिद्धान्त में रूप-तत्त्व की परख करनेवाले साहित्यलोचन के कुछ व्यापक मानदंड मिलते हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वस्तुतः अलंकार और रीति के सिद्धान्तों ने किसी व्यापक सौन्दर्य-सिद्धान्त की उद्भावना ही नहीं की। इसी लिए कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रति परवर्ती आचार्यों ने जो विरोध प्रदर्शित किया, वह क्षोभ का विषय है। दरअसल (ध्वनि-संयुक्त) रस-सिद्धान्त में ही रूप-निर्माण की प्रक्रिया के रूप में वक्रोक्ति का समाहार करने की आवश्यकता थी।

: ९ :

उपसंहार

राजशेखर

अन्त में हम यायावर राजशेखर और उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी (नवीं शती का अंत) द्वारा 'काव्यमीमांसा' में उठाये गये कुछ प्रश्नों का उल्लेख करके प्राचीन भारतीय आलोचना के विकास का यह विवरण समाप्त करेंगे। इन प्रश्नों का साहित्य की आलोचना में काफी महत्व है। विशेषकर, पाश्चात्य आलोचना का तो सूत्रपात ही इन प्रश्नों से हुआ था। प्लेटो ने काव्य के नैतिक प्रभाव का प्रश्न उठाकर होमर और हीसियड को रचनाओं से यह सिद्ध किया था कि कवि देवताओं की कल्पित स्पर्धा, अनैतिकता, क्रूरता और उनके अनाचार का वर्णन इतने चमत्कारपूर्ण ढंग से करते हैं कि दर्शकों पर इसका अनैतिक और प्रमादपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उनकी दृष्टि में कवि शिव और सत्य का विरोधी होता है, इसलिए अपने आदर्श गणतन्त्र में उन्होंने कवि के लिए कोई स्थान ही नहीं रखा। प्लेटो एक प्रकार से कवि-कर्म पर प्रतिबन्ध और नियंत्रण (सेंसर) लगाने के पक्षपाती थे। इस संकीर्ण दृष्टिकोण की प्रतिध्वनि फासिस्टी और निरंकुश साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं में आज भी सुनायी देती है। नवीं शती में संभवतः काव्य के बारे में हमारे यहां भी कुछ वैसे ही संकीर्णतावादी नैतिक प्रश्न पूछे जाने लगे थे। इसलिए इस प्रश्न के उत्तर में कि "काव्यों में वर्णनीय व्यक्ति या विषय के प्रति सामान्यतः जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, उसके कारण क्या वे त्याज्य नहीं हैं ?" राजशेखर ने कहा कि नहीं, यह वर्णन "असंगत और असत्य नहीं होता। इस प्रकार के अर्थवादपूर्ण वर्णन तो वेदों, शास्त्रों और लोक में भी पाये जाते हैं।" कुछ लोगों का मत था कि लोक में सन्मार्ग का उपदेश ही उचित होता है, लेकिन काव्यों में रति आदि के अश्लील वर्णन रहते हैं, इसलिए काव्य अग्राह्य और त्याज्य हैं। इसके उत्तर में राजशेखर ने उदाहरण देकर बताया कि

कवि को "प्रसंग आने पर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है।" इस प्रकार राजशेखर ने काव्य में अर्थवाद और अश्लील के वर्णन को प्रसंगवश उचित बताकर एक उदार दृष्टि का ही परिचय नहीं दिया, बल्कि कवि या कलाकार पर अनावश्यक प्रतिबन्ध लगाने का भी विरोध किया।

'प्रतिभा' के विवेचन में राजशेखर ने ही यह भेद किया था कि 'कारयित्री प्रतिभा' कवि की उपकारक होती है और 'भावयित्री प्रतिभा' भावक की। उनके मत में "कवि और भावक (आलोचक) में भेद नहीं क्योंकि दोनों ही कवि हैं।" उन्होंने आलोचकों को चार कोटियों में बांटा है (१) अरोचकी (जिन्हें किसी की अच्छी-से-अच्छी रचना भी नहीं जंचती) (२) सतृणाभ्यवहारी (जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओं पर 'वाह वाह' कर उठते हैं)। (३) मत्सरी (जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नहीं करते और कुछ-न-कुछ दोष-दर्शन कराने की चेष्टा करते रहते हैं) (४) तत्त्वाभिनिवेशी (जो निष्पक्ष और सच्चे समालोचक होते हैं। भावयित्री प्रतिभा केवल उनमें ही मिलती है, लेकिन ऐसे मात्सर्यरहित गुणज्ञ आलोचक विरले ही होते हैं)। राजशेखर का यह विवेचन आज भी सही है।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय आलोचना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और विशाल ही नहीं है, बल्कि विश्व के साहित्यालोचन में उसकी महती देन भी है—रस, ध्वनि और वक्रोक्ति-सिद्धान्तों के रूप में। इन सिद्धान्तों में अनेक सार्वजनीन और सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों का निरूपण हमें मिलता है, जो मानव-मात्र की सामान्य, स्थायी और जीवित विरासत होने के साथ ही साहित्य-कला के निर्माण और उसके मूल्यांकन संबंधी हमारी आधुनिक मान्यताओं का मूलाधार बन सकती हैं। कम-से-कम इतना तो निर्विवाद है कि किसी भी व्यापक, वस्तुपरक सौन्दर्य-शास्त्र या आलोचना-सिद्धान्त का निर्माण इस विशाल और समृद्ध परम्परा की उपेक्षा करके नहीं हो सकता। पाश्चात्य और पूर्वात्य की सुविशाल काव्य-शास्त्र-

परम्पराओं की स्थायी उपलब्धियों को समान भाव से ग्रहण करके और एक समन्वयकारी वैज्ञानिक दृष्टि के अन्तर्गत उनका समन्वय और समाहार करके ही साहित्य-कला की आलोचना विकास कर सकती है, और देश-काल-जनित प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोणों की साम्प्रदायिक संकीर्णताओं को त्यागकर उनके वस्तुपरक अभिप्रायों का उद्घाटन कर सकती है।

दुर्भाग्य से सत्रहवीं शताब्दी के बाद भारतीय आलोचना का आगे विकास नहीं हुआ। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने इस परम्परा को विकृत ही किया। बीसवीं सदी में आकर प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का अध्ययन तो बहुत हुआ है, लेकिन शास्त्रानुयायी (scholastic) ढंग से ही, मूल्यनिष्ठापूर्वक नहीं। इसलिए इस अध्ययन-अध्यापन से भारतीय आलोचना का विकास नहीं हुआ—आचार्य शुक्ल तथा अन्य विद्वानों के गंभीर प्रयत्नों के बावजूद। हिन्दी में छायावादी कवियों—प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी—और प्रगतिवादी तथा अब कुछ प्रयोगवादी आलोचकों ने ही कुछ मौलिक स्थापनाएं की हैं, लेकिन उनकी मौलिकता हिन्दी-सापेक्ष्य ही है। दरअसल ये स्थापनाएं पाश्चात्य दृष्टिकोणों से प्रभावित हैं और भारतीय परम्परा का उनमें समाहार नहीं है।

द्वितीय खण्ड

पाश्चात्य आलोचना का विकास

: १ :

प्राचीन परम्परा और नवीन विकास

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा भी लगभग ढाई हजार साल पुरानी है। आरंभ में उसका विकास यूनान में हुआ, फिर रोम में। प्लेटो, अरस्तू, लौंजाइनस, हॉरेस, क्विन्टीलियन इस प्राचीन परम्परा के निर्माता हैं। ईसा की तीसरी शती तक पहुंचते-पहुंचते इस परम्परा का विकास अवरुद्ध हो गया। पादरी-वर्ग द्वारा लागू किए गये कठोर धार्मिक अनुशासन में स्वतंत्र ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य और आलोचना के प्रेरणा-स्रोत सूख गये। मध्ययुगीन निवृत्तिमूलक और वैराग्य-प्रधान ईसाई धर्मान्धता ने निविड़ अंधकार की तरह फैलकर योरप के सामाजिक और बौद्धिक जीवन को आच्छादित कर लिया। तेरहवीं शती में दांते की प्रतिभा ने सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत के रूप में धूमकेतु की तरह साहित्याकाश में उदित होकर इस अंधकार के आवरण को चीरते हुए आलोक की एक शुभ्र रेखा खींच दी। इसके बाद दो-तीन सौ साल तक आलोचना की परम्परा का पुनः अविच्छिन्न विकास तो नहीं हो सका, लेकिन सामाजिक जीवन में बौद्धिक स्वतंत्रता की अदम्य भावना पनपती रही, जिसने आगे के विकास की भूमिका तैयार की। सोलहवीं शताब्दी में सर फिलिप सिडनी की पुस्तक ने पाश्चात्य आलोचना की प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। सांस्कृतिक नवजागरण ने साहित्य, कला और विज्ञान के हर क्षेत्र में अभूत-पूर्व विकास के जो द्वार खोल दिए थे, उसके परिणामस्वरूप पाश्चात्य आलोचना का भी अविच्छिन्न विकास शुरू हुआ। तब से, विशेषकर फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी, इटली, रूस और अमरीका में साहित्य और कला के असंख्य आलोचक, यूनान के मनीषी आचार्यों से दृष्टि लेकर, अपने मौलिक

चिन्तन द्वारा साहित्य और कला का गंभीर, शास्त्रीय विवेचन ही नहीं करते आये हैं, बल्कि विश्व-साहित्य की महान कृतियों और युग-विधायिनी प्रवृत्तियों का भी मूल्यांकन और विवेचन करते आये हैं। पाश्चात्य साहित्य और कला की तरह आलोचना की यह एक विशाल और महान परम्परा है। इस परम्परा को पश्चिम के मार्क्सवादी तथा भौतिकवादी दार्शनिकों ने साहित्य और सौन्दर्य-संबंधी अपनी गंभीर उद्भावनाओं से समृद्ध किया है। मनुष्य के बाह्य सामाजिक और आभ्यंतरिक जीवन का अध्ययन करनेवाले जितने भी शास्त्र और विज्ञान हैं—समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, मानव-शास्त्र और जीव-शास्त्र—उनके प्रमुख विद्वानों ने भी अपने-अपने क्षेत्र के अनुसंधानों से प्राप्त तथ्यों की रोशनी में लेखक और कलाकार के मन में होनेवाली रचनात्मक प्रक्रिया से लेकर दर्शक-श्रोता-पाठक के मन में होनेवाली सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया और आदिम-युग के मानव की सरल, अबोध कलात्मक चेष्टाओं से लेकर आधुनिक युग के संश्लिष्ट कला-रूपों के विकास का सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर गंभीर अध्ययन किया है, और इस प्रकार पाश्चात्य आलोचना को विभिन्न विज्ञानों से भी अनेक नयी दृष्टियां प्राप्त हुई हैं। साथ ही, इस बीच पाश्चात्य साहित्य में जितनी प्रवृत्तियां मुखर हुई हैं—स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, प्रकृतवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, रूप-चित्रवाद, अस्तित्ववाद, समाजवादी-यथार्थवाद आदि—उनके प्रवर्तकों ने भी साहित्य के किसी-न-किसी तत्त्व का सांगोपांग विवेचन करके, कम-से-कम उस तत्त्व के बारे में हमारी आलोचना-दृष्टि को गहराई प्रदान की है। साहित्य के विभिन्न रूप-प्रकारों—कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध आदि की रूपगत विशिष्टताओं और ऐतिहासिक विकास का भी पर्याप्त सूक्ष्मता से वहां अध्ययन हुआ है और संगीत, चित्र, मूर्ति, नृत्य, स्थापत्य, बेले, ऑपेरा, रंगमंच, सिनेमा आदि विभिन्न कला-माध्यमों का इतना गहन और तात्त्विक अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने किया है कि इन सबसे प्राप्त दृष्टियों के आधार पर वहां दर्शन और आलोचना-शास्त्र

से भिन्न, किन्तु उनसे सबद्ध, एक स्वतंत्र सौन्दर्य-शास्त्र का विकास भी हो गया है। इस प्रकार साहित्य और कला की तरह पाश्चात्य आलोचना की परम्परा भी इतनी समृद्ध और सम्पन्न है कि एक परिच्छेद की सीमा में उसके विकास की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत करना भी एक असभव कार्य दीखता है।

इस दुस्साहसपूर्ण यात्रा पर चलने से पहले भारतीय पाठकों को दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। पहली तो यह कि मध्ययुग के अंधकार में डूबे हजार-बारह सौ वर्षों के बावजूद, आज यह लगता है जैसे पाश्चात्य दर्शन, साहित्य, कला, आलोचना, यानी संस्कृति की विकासधारा प्राचीन यूनान से लेकर अब तक अविच्छिन्न रही है। प्राचीनों और आधुनिकों के बीच वहां देश-काल का व्यवधान या दूरी नहीं दिखायी देती। प्राचीन यूनान के दार्शनिक, सौन्दर्य-शास्त्री, महाकवि और नाटककार समस्त पाश्चात्य जगत के लिए आज भी अनन्त प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं और उसे सतत आलोक-दान करते जा रहे हैं। होमर, एस्किलेस, सोफोक्लीज़ और यूरीपिडीज़ के महाकाव्य और नाटक पाश्चात्य साहित्यकारों के लिए आज भी अनुकरणीय आदर्श हैं। प्लैटो, अरस्तू और दूसरे दार्शनिकों की कृतियां दर्शन, आलोचना, और समाजशास्त्र, यहा तक कि हर क्षेत्र के वैज्ञानिकों और विचारकों के लिए आज भी प्रस्थान-बिन्दु हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे बार-बार दृष्टि और आलोक लेने के लिए उनके पास जाते हैं—पिष्ट-पेषण के खातिर नहीं, न अपनी रूढ़ि-ग्रस्त संकीर्णताओं के लिए आश्रय और औचित्य खोजने के लिए ही, बल्कि अपने अनुसन्धानों से प्राप्त तथ्य-ज्ञान और अनुभव को किसी व्यापक नियम के अन्तर्गत व्यवस्था देने की प्रणाली सीखने के लिए और अपनी मौलिक उद्भावनाओं को परम्परा की कड़ी में जोड़ने के लिए। तात्पर्य यह कि प्राचीन यूनान के मनीषी आचार्यों और महाकवियों की कृतिया पाश्चात्य जगत की एक सामान्य और जीवन्त विरासत हैं, और परवर्ती आलोचकों और विद्वानों के सत्प्रयत्नों से अब समग्र मानवता की सामान्य विरासत बन गई हैं।

चिन्तन द्वारा साहित्य और कला का गंभीर, तात्त्विक चिंतन ही नहीं करते आये हैं, बल्कि विश्व-साहित्य की महान कृतियों और युग-विशिष्ट प्रवृत्तियों का भी मूल्यांकन और विवेचन करते आये हैं। पाश्चात्य साहित्य और कला की तरह आलोचना की यह एक विशाल और महान परम्परा है। इस परम्परा को पश्चिम के मार्क्सवादी तथा भौतिकवादी दार्शनिकों ने साहित्य और सौन्दर्य-संबंधी अपनी गंभीर उद्भावनाओं से समृद्ध किया है। मनुष्य के बाह्य सामाजिक और आभ्यंतरिक जीवन का अध्ययन करनेवाले जितने भी शास्त्र और विज्ञान हैं—समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, मानव-शास्त्र और जीव-शास्त्र—उनके प्रमुख विद्वानों ने भी अपने-अपने क्षेत्र के अनुसंधानों से प्राप्त तथ्यों की रोशनी में लेखक और कलाकार के मन में होनेवाली रचनात्मक प्रक्रिया से लेकर दर्शक-श्रोता-पाठक के मन में होनेवाली सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया और आदिम-युग के मानव की सरल, अबोध कलात्मक चेष्टाओं से लेकर आधुनिक युग के संश्लिष्ट कला-रूपों के विकास का सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर गंभीर अध्ययन किया है, और इस प्रकार पाश्चात्य आलोचना को विभिन्न विज्ञानों से भी अनेक नयी दृष्टियां प्राप्त हुई हैं। साथ ही, इस बीच पाश्चात्य साहित्य में जितनी प्रवृत्तियां मुखर हुई हैं—स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, प्रकृतवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, रूपचित्रवाद, अस्तित्ववाद, समाजवादी-यथार्थवाद आदि—उनके प्रवर्तकों ने भी साहित्य के किसी-न-किसी तत्त्व का सांगोपांग विवेचन करके, कम-से-कम उस तत्त्व के बारे में हमारी आलोचना-दृष्टि को गहराई प्रदान की है। साहित्य के विभिन्न रूप-प्रकारों—कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध आदि की रूपगत विशिष्टताओं और ऐतिहासिक विकास का भी पर्याप्त सूक्ष्मता से वहां अध्ययन हुआ है और संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य, बेले, ऑपेरा, रंगमंच, सिनेमा [illegible]
इतना गहन और तात्त्विक अध्ययन [illegible]
इन सबसे प्राप्त दृष्टियों के आधार

विज्ञान के इस अभूतपूर्व युग मे देशो और संस्कृतियों के बीच अनुलंघ्य दीवारें नही रही। राष्ट्रीय संस्कृतिया और परम्पराएं अपना वैशिष्ट्य रखते हुए भी, विश्व-मानवता की एक सामान्य संस्कृति और परम्परा का अभिन्न अंग बनती जा रही हैं। इसलिए वह समय निकट है जब उस व्यापक समन्वयकारी अनुष्ठान मे पूर्वात्य और पाश्चात्य के युग-चेता विद्वानों का समान योगदान रहेगा और प्राचीन भारत, चीन, मिस्र, यूनान और आधुनिक जगत की समस्त उपलब्धियो का एक व्यापक साहित्य-सिद्धान्त के रूप मे समन्वय किया जायगा। तब भरतमुनि, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और कुन्तक के साथ प्लैटो, अरस्तू, लौंजाइनस, गेटे, लेसिंग, आर्नल्ड, रस्किन, बेलिन्स्की, चर्निशेव्स्की, तॉल्स्तॉय, कॉडवेल आदि हम सब की सामान्य, जीवन्त विरासत के अंग होगे। लेकिन यह भविष्य मे प्रतिफलित होनेवाली आशा की कल्पना-मात्र है। तत्काल तो हमें पाश्चात्य आलोचना के विकास की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत करनी है, ताकि साहित्य, कला और सौन्दर्य-संबंधी प्रश्नों पर पाश्चात्य विचारकों ने जो तात्विक दृष्टियां प्रदान की है और जिन सार्वजनीन और सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों की उद्भावनाएं की हैं उनसे भारतीय पाठक आरंभिक परिचय प्राप्त कर सकें। जिन विशिष्ट सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो मे पाश्चात्य आलोचना का प्रत्येक युग में विकास हुआ उनकी ओर स्थानाभाव के कारण हम स्थूल संकेत ही कर सकते है, उनका विस्तृत विवेचन नही कर सकेंगे।

: २ :

पाश्चात्य आलोचना का जन्म : यूनानी काव्य-चिन्तक

प्राचीन यूनान मे जब काव्य-शास्त्र के रूप मे पाश्चात्य आलोचना का विकास हुआ, उस समय वहां की सभ्यता और संस्कृति अपनी उन्नति के चरम

दूसरी बात यह कि अपने-अपने सीमित क्षेत्र की एकांगिता और मतवादी आग्रह भी इन विभिन्न साहित्य-दृष्टियों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। विशेषकर बीसवीं शताब्दी में आकर सामाजिक-आर्थिक कारणों से पाश्चात्य संस्कृति में विघटन की जो प्रक्रिया शुरू हुई है, उससे साहित्य और कला में अनास्था, कुंठा और मानवद्रोह की प्रवृत्तियों को बेहद प्रोत्साहन मिला है और इन प्रवृत्तियों का औचित्य सिद्ध करनेवाली 'नयी आलोचना'-जैसे अनर्गल और छिछोरे तर्कवाद का भी आजकल वहां काफी शोर सुनायी देता है। उनकी देखा-देखी हमारे यहां भी कुछ लोग कुंठा-ग्रस्त और मानवद्रोही बनने का उपक्रम करने लगे हैं, और उनकी आलोचना में उस अनर्गल तर्कवाद की नक़ल दिखायी देती है जिसकी ओर मैंने अभी संकेत किया है। लेकिन पाश्चात्य देशों में आज भी ऐसे सत्यनिष्ठ आलोचकों और विचारकों की कमी नहीं है जो अपने गंभीर वस्तुपरक विवेचन से साहित्य और कला के संबंध में मौलिक उद्भावनाएं करते जा रहे हैं। यह ठीक है कि साहित्य और कला-संबंधी इस विपुल ज्ञान और असंख्य तात्विक दृष्टियों का अभी तक किसी व्यापक साहित्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत समन्वय नहीं किया जा सका है। संभवतः वर्तमान की अनिश्चितता और अशान्ति ही इसके लिए उत्तरदायी है। लेकिन मानव-इतिहास में यह एक अस्थायी दौर है और आशंका और त्रास का यह संक्रान्ति-युग हमेशा नहीं चलेगा। किन्तु इन बातों के कारण ही पाश्चात्य आलोचना की महान उपलब्धियों के प्रति तिरस्कारपूर्ण भावना रखना अदूरदर्शिता होगी।[1] प्रेम और

---

१. हमारे कुछ शास्त्रानुयायी विद्वान राष्ट्रीयता के नाम पर पाश्चात्य आलोचना की महान उपलब्धियों को नगण्य और तत्वहीन साबित करने की चेष्टा करते रहे हैं। यह अत्यन्त संकीर्ण और संस्कृति-विरोधी दृष्टिकोण है। कूपमण्डूकता हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के उन्नयन का कारण नहीं बन सकती। उसके विकास के लिए हर क्षेत्र में अधिकाधिक स्वच्छन्द आदान-प्रदान की ज़रूरत हमेशा ही बनी रहेगी।

विज्ञान के इस अभूतपूर्व युग में देशों और संस्कृतियों के बीच अनुल्लंघ्य दीवारें नहीं रहीं। राष्ट्रीय संस्कृतियां और परम्पराएं अपना वैशिष्ट्य रखते हुए भी, विश्व-मानवता की एक सामान्य संस्कृति और परम्परा का अभिन्न अंग बनती जा रही हैं। इसलिए वह समय निकट है जब उस व्यापक समन्वयकारी अनुष्ठान में पूर्वात्य और पाश्चात्य के युग-चेता विद्वानों का समान योगदान रहेगा और प्राचीन भारत, चीन, मिस्र, यूनान और आधुनिक जगत की समस्त उपलब्धियों का एक व्यापक साहित्य-सिद्धान्त के रूप में समन्वय किया जायगा। तब भरतमुनि, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और कुन्तक के साथ प्लेटो अरस्तू, लौंजाइनस, गेटे, लेसिंग, आर्नल्ड, रस्किन, बेलिन्स्की, चर्निशेव्स्की, तॉल्स्तॉय, कॉडवेल आदि हम सब की सामान्य, जीवन्त विरासत के अंग होंगे। लेकिन यह भविष्य में प्रतिफलित होनेवाली आशा की कल्पना-मात्र है। तत्काल तो हमें पाश्चात्य आलोचना के विकास की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत करनी है, ताकि साहित्य, कला और सौन्दर्य-संबंधी प्रश्नों पर पाश्चात्य विचारकों ने जो तात्त्विक दृष्टियां प्रदान की हैं और जिन सार्वजनीन और सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों की उद्भावनाएं की हैं उनसे भारतीय पाठक आरंभिक परिचय प्राप्त कर सकें। जिन विशिष्ट सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में पाश्चात्य आलोचना का प्रत्येक युग में विकास हुआ उनकी ओर स्थानाभाव के कारण हम स्थूल संकेत ही कर सकते हैं, उनका विस्तृत विवेचन नहीं कर सकेंगे।

: २ :

पाश्चात्य आलोचना का जन्म : यूनानी काव्य-चिन्तक

प्राचीन यूनान में जब काव्य-शास्त्र के रूप में पाश्चात्य आलोचना का विकास हुआ, उस समय वहां की सभ्यता और संस्कृति अपनी उन्नति के चरम

शिखर पर पहुंच चुकी थी। आदिकवि होमर से भी पहले से यहां के लोगों में यह धारणा चली आ रही थी कि कवि और गायक दैवी प्रेरणा से काव्य-रचना करते हैं, और उनमें लोगों को आनन्दित करने की अलौकिक शक्ति होती है। होमर और हीसियड और बाद में एस्किलेस, सोफोक्लीज़ और यूरीपिडीज़ के महाकाव्यों और नाटकों को सुनकर और अथेन्स के एटि थियेटर में उनका अभिनय देखकर लोगों ने अनुभव किया कि काव्य अप ढंग से जीवन के गहनतम सत्यों का भी उन्मीलन करता है, इसलिए कवि केवल लोकरंजन ही नहीं करता, वह एक शिक्षक भी है। दैवी कल्पना से प्रेरित होने के कारण कवि जिस वस्तु के बारे में गाता है, वह सत्य होती है कालान्तर में होमर और हीसियड की कृतियों का यूनान में उसी श्रद्धा और धार्मिक भावना से आदर होने लगा, जिस भावना से ढाई हज़ार साल पहले हमारे यहां आदिकवि वाल्मीकि और वेदव्यास के महाकाव्यों का आदर होता था। यह समझा जाने लगा कि दर्शन की तरह काव्य भी धर्म और नैतिकता-संबंधी सत्यों का निरूपण करता है। काव्य-संबंधी इस व्यापक धारणा का संकेत हमें होमर के महाकाव्य 'ओडिसी' में भी मिलता है और अरिस्तोफनीज़ के हास्य-नाटक 'फ्रॉग्स' में सबसे पहले उस आलोचनात्मक प्रश्न का आभास भी मिलता है, जो होमर तथा अन्य कवियों की लोकप्रियता के कारण दार्शनिकों के मन में उठ रहा था। अरिस्तोफनीज़ ने कवि एस्किलेस द्वारा यूरीपिडीज़ से यह प्रश्न पुछवाया—"मेहरबानी करके, मुझे बताओ कि कवि को किस विशेष आधार पर सम्मान पाने का दावा करना चाहिए?" और इसके उत्तर में यूरीपिडीज़ से कहलवाया कि "यदि उसकी कला सच्ची है और उसका परामर्श सत् है, और यदि वह किसी भी दृष्टि से मानव को पहले से बेहतर बनाकर राष्ट्र की सहायता करता है," तो उसे यश का अधिकारी समझना चाहिए। यह प्रश्न कवियों के बारे में प्रचलित श्रद्धा की भावना को चुनौती देने की खातिर ही पूछा गया था, ताकि काव्य का मूल्य नैतिक और सामाजिक शिवत्व की दृष्टि से ही आंका जाय रचनात्मक कौशल या आनन्द देने की क्षमता के कारण

नहीं। जेनोफनीज ने बहुत पहले ही शिकायत की थी कि होमर और हीसियड ने देवताओं के चरित्र में वे कमज़ोरियां दिखायी हैं, जिनके कारण साधारण मनुष्य भी निन्दा और भर्त्सना के पात्र बन जाते हैं। इस प्रकार नैतिक आधार पर काव्य की प्रशंसा या निन्दा करने की प्रथा छठी शती ई० पू० से ही चली आ रही थी। इस बात को लक्ष्य में रखकर ही प्लैटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में "कविता और नैतिकता के प्राचीन झगड़े" की ओर संकेत किया।

प्लैटो

काव्य-शास्त्र पर प्लैटो (४२७–३४७ ई० पू०) ने कोई अलग से पुस्तक नहीं लिखी, लेकिन उसके 'संवादों', विशेषकर 'फीड्रस' और 'आयोन' में और उसकी पुस्तक 'रिपब्लिक' में व्यक्त काव्य-संबंधी विचारों के आधार पर उसके सौन्दर्य-सिद्धान्त की रूपरेखा तैयार की जा सकती है। 'फीड्रस' और 'आयोन' में प्लैटो ने उस प्राचीन धारणा की पुष्टि की, जिसके अनुसार यह माना जाता था कि कवि ईश्वरीय प्रेरणा से काव्य-रचना करता है। अंतःप्रेरणा ही काव्य-रचना का हेतु है। कला की अधिष्ठात्री देवियां कवि के मन पर हावी हो जाती हैं, और वह अपना विवेक खोकर उन्माद की स्थिति में पहुंच जाता है। उन्माद की इस अवस्था में वह अपनी कल्पना से जीवन के गंभीरतम सत्यों की प्रतीति कर लेता है, यद्यपि इस प्रतीति का ढंग दार्शनिक की द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति से भिन्न होता है। प्लैटो ने यह भी कहा कि ईश्वर से प्रेरित होने के कारण कवि अपने गायकों को प्रेरित कर देता है और गायक अपने श्रोताओं को। चुम्बक-तरंगों की तरह प्रेरणा का यह सिलसिला चलता जाता है। प्लैटो ने ही सब से पहले इस तथ्य का निरूपण किया कि सभी कलाएं अनुकृति-मूलक होती हैं, और उनके द्वारा जगत के मूलभूत-सत्यों की अभिव्यंजना होती है। लेकिन 'आयोन' और 'फीड्रस' में व्यक्त काव्य और कला-संबंधी ये उदार विचार हमें 'रिपब्लिक' में नहीं मिलते, जो इनसे बाद की रचना है। 'रिपब्लिक' में उसने सत्य और

नैतिकता की दृष्टि से कवि और कविता की परीक्षा की और अपने भाववादी (आइडियलिस्ट) दर्शन की मान्यताओं के अनुसार वह इस परिणाम पर पहुँचा कि कवि एक प्रमादी और गैरजिम्मेदार व्यक्ति होता है, इसलिए वह नैतिक प्राणी नहीं हो सकता। उसकी कविता सत्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। क्योंकि भाव-सत्य की अनुकृति-रूप बाह्य-जगत की अनुकृति होने के कारण वह सत्य से दो गुनी दूर होती है। कविता से श्रोताओं में भी उन्माद फैलता है, और इस प्रकार नैतिक अनाचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए इस आदर्श राज्य में, जिसकी कल्पना प्लैटो ने 'रिपब्लिक' में की है, कवि का कोई स्थान नहीं हो सकता। काव्य और कवियों के प्रति प्लैटो की इस असहिष्णुता के प्रति हर युग के विचारकों और कवियों ने प्रतिवाद किया है। अरस्तू का 'विरेचन का सिद्धान्त' प्रच्छन्न रूप से कवियों पर लगाये गये इस अभियोग का ही उत्तर है। मिल्टन का यह प्रतिवाद अत्यन्त मार्मिक था जब उसने कहा, "निस्सन्देह, अपने राज्य से बहिष्कृत कवियों को तुम फिर वापस बुला लोगे, क्योंकि तुम स्वयं उन सबसे बड़े कवि हो। या फिर, उस आदर्श राज्य के तुम चाहे संस्थापक ही क्यों न हो, तुम्हें भी उनके साथ ही बहिष्कृत होना पड़ेगा।" दरअसल प्लैटो कविता की शक्ति और महानता से परिचित था, लेकिन दार्शनिकों के बीच कविता और नैतिकता को लेकर चलनेवाले 'पुराने झगड़े' का वह कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। यह समाधान अरस्तू ने पेश किया।

अरस्तू

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के निर्माताओं में प्लैटो के शिष्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) का वही स्थान है, जो हमारे यहां भरतमुनि का है। अरस्तू के 'काव्य शास्त्र' का एक अंश ही प्राप्त हुआ है। प्राचीन काल में अरस्तू के साहित्य-सिद्धान्त का कितना प्रचलन था और उसका यूनान और रोम के कवियों और आलोचकों पर कितना प्रभाव पड़ा, यह सब अज्ञात है। निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मध्ययुग में यद्यपि

अरस्तू के दार्शनिक विचारों का सामान्य रूप से अध्ययन किया जाता था, लेकिन उसके 'काव्य शास्त्र' को पूर्ण उपेक्षा होती रही। सन् १४९८ ई० में पहली बार ज्यौर्जियो वाला ने लातीनी भाषा में उसका अनुवाद किया। स्प्रिंगार्न का कहना है कि सन् १५३६ में जब यूनानी और लातीनी भाषा में 'काव्य शास्त्र' का प्रकाशन हुआ, तब से ही आधुनिक साहित्य-सिद्धान्तों पर अरस्तू का प्रभाव बढ़ना शुरू हुआ और उसके दार्शनिक विचारों का एकाधिपत्य कम होने लगा।

प्लेटो ने यह दार्शनिक प्रश्न उठाकर कि कविता अनुकृति की अनुकृति होने के कारण वास्तविकता से दो गुनी दूर होती है, नैतिक आधार पर कवियों और कविता के बहिष्कार का जो आदेश दिया था, उसकी अवहेलना करके किसी नये काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन असंभव था। अरस्तू ने सीधे तो अपने गुरु की मान्यताओं का खंडन नहीं किया, लेकिन कविता क्या है, इस मूलभूत प्रश्न का विवेचन करके और यूनानी-जगत में विकसित काव्य-रूपों का वर्गीकरण, और उनके शिल्प-वैशिष्ट्य का निरूपण करके उसने कविता और कला को दर्शन और नैतिकता से अलग एक स्वतंत्र और महत्वपूर्ण मानव-क्रिया का गौरव प्रदान किया और 'विरेचन' (catharsis) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके काव्य और कला के उदात्त प्रभाव पर प्रकाश डाला। इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से अरस्तू ने प्लेटो के संकीर्ण मतवाद का पूरी तरह निराकरण करके साहित्य और सौन्दर्य के स्वतंत्र अध्ययन का मार्ग निर्दिष्ट किया।

काव्य क्या है, इस दार्शनिक प्रश्न का विवेचन करते हुए अरस्तू ने कहा कि हर प्रकार की कविता—महाकाव्य, ट्रेजेडी (दुखान्तकी नाटक) कॉमेडी (सुखान्तकी नाटक) और प्रगीतात्मक—अनुकृति-मूलक होती है। हमारे यहां 'अनुकरण' के इस सिद्धान्त का काफी संकुचित अर्थ लिया जाता रहा है। लेकिन अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय बहुत व्यापक था। प्रो० बूचर के शब्दों में 'अनुकरण' से अरस्तू का अभिप्राय "किसी सत्य-विचार के अनुसार सृष्टि करना" था। 'सत्य-विचार' से तात्पर्य ऐन्द्रिय-

गोचर तथ्यों (अनुभव तथा कार्य) से प्रज्ञा द्वारा ग्रहण जीवन का कोई भी सामान्य विचार-सूत्र है। यह कला-संबंधी एक व्यापक सौन्दर्य-नियम है। इस प्रकार 'अनुकरण' वास्तव में 'मूर्तीकरण' की प्रक्रिया का ही नाम है। कवि या कलाकार 'अनुभव करते हुए या कार्य में संलग्न मनुष्यों' को विभिन्न माध्यमों में स्थापित करता है। इसलिए यह अनुकरण काव्य-धर्मी होता है। काव्य या कला में मानव-जीवन की किसी विशेष परिस्थिति को प्रस्तुत किया जाता है। इस आधार पर अरस्तू ने काव्य में चित्रित पात्रों का भी वर्गीकरण किया। पात्र ऐसे हो सकते हैं जो वास्तविक जीवन में मिलनेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक उदात्त और वीर हों, या अधिक क्षुद्र और स्वार्थी, और उनके अनुरूप ही कवि अपने काव्य की या तो उदात्त-शैली में रचना कर सकता है या व्यंग्य-शैली द्वारा अपने पात्रों को हास्यास्पद दिखा सकता है। इसके अलावा काव्य-कथा अंशतः वर्णनात्मक ढंग से और अंशतः संवादों के रूप में पेश की जा सकती है, या केवल वर्णनात्मक ढंग से ही या नाटकीय ढंग से, जिसमें वर्णन की आवश्यकता नहीं होती। अपने 'काव्यशास्त्र' के आरंभ में ही अरस्तू ने इन तीन प्रकार के काव्यों का वर्गीकरण किया है। माध्यम, विषय-वस्तु और शिल्प-टेकनीक के भेद पर आधारित इन तीन प्रकार के काव्यों में दुखान्तकी और सुखान्तकी नाटकों का भेद मूलतः विषय-वस्तु के आधार पर है। दुखान्तकी के पात्र असामान्य व्यक्तित्व के होते हैं, जब कि सुखान्तकी के पात्र साधारण कोटि के। महाकाव्य पात्रों की दृष्टि से दुखान्तकी के समान होता है, लेकिन उसकी टेक्नीक भिन्न होती है, और व्यंग्य-काव्य सुखान्तकी से मिलता-जुलता है।

ट्रैजेडी (दुखान्तकी) की व्याख्या करते हुए अरस्तू ने लिखा कि "ट्रैजेडी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसकी भाषा भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त आनन्ददायी उपकरणों से अलंकृत होती है। इस अनुकृति का रूप वर्णनात्मक न होकर, नाटकीय होता है, जिसके कार्य-व्यापार में करुणा

तथा त्रास की भावनाओं का उद्रेक करनेवाली घटनाओं की योजना रहती है, ताकि इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जा सके।"

अरस्तू के अनुसार कथानक (कार्य-विशेष), चारित्र्य और विचार —ट्रैजेडी के ये तीन मूलतत्त्व हैं। इन तीन के सामंजस्यपूर्ण संयोग से ही ट्रैजेडी का निर्माण होता है। कथानक से अरस्तू का अभिप्राय नाटक की कहानी-मात्र नहीं था, बल्कि वह विशिष्ट कार्य-व्यापार था जिसकी अनुकृति नाटक में होती है। इसी लिए इन तीनों तत्त्वों में से अरस्तू ने कथानक को ट्रैजेडी की आत्मा कहकर सबसे अधिक महत्त्व दिया। चारित्र्य और विचार का महत्त्व है, लेकिन कार्य-व्यापार (विशिष्ट और सारवान मानव-परिस्थिति) के उद्घाटन का कारण-साधन होने के नाते ही। अरस्तू के शब्दों में, "ट्रैजेडी अनुकृति है—व्यक्ति की नहीं, बल्कि कार्य और जीवन की, क्योंकि जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है और उसका प्रयोजन भी एक प्रकार का व्यापार ही है, गुण नहीं। व्यक्ति के गुणों का निर्धारण तो उसके चारित्र्य से होता है, पर उसका सुख या दुःख उसके कार्यों पर निर्भर करता है। अतः नाट्य-व्यापार का उद्देश्य चरित्र का अभिव्यंजन नहीं होता। चरित्र तो कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप में आ ही जाता है।" तीसरे तत्त्व 'विचार' के संबंध में अरस्तू का कहना है कि "विचार का अर्थ है प्रस्तुत परिस्थिति में जो संभव और संगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता।"

ट्रैजेडी के विवेचन में अरस्तू ने कला-निर्मिति के अनेक सार्वजनीन सौन्दर्य-सिद्धान्तों का निरूपण किया है। ट्रैजेडी का उद्देश्य करुणा और त्रास की भावनाओं का उद्रेक करके उनका विरेचन करना है, यह स्थापना करके अरस्तू ने प्लेटो के अभियोग का उत्तर दिया। मनोविकारों के शमन में दर्शक को एक विशेष प्रकार का निर्दोष आनन्द मिलता है, जो उसकी आत्मा को विशद बनाता है। आत्मा को विशद और प्रसन्न करनेवाला यह आनन्द ही ट्रैजेडी का प्रयोजन है। ट्रैजेडी महाकाव्य या किसी भी रचना में अभिव्यक्त विषय-वस्तु सर्वांगपूर्ण होनी चाहिए तथा उसमें आन्तरिक सामंजस्य होना चाहिए, इसका भी अरस्तू ने निर्देश किया।

इसके अलावा उसने इतिहास और काव्य का भेद बताते हुए एक महान तथ्य पर पहली बार प्रकाश डाला। उसने कहा कि इतिहास और काव्य का वास्तविक भेद यह है कि इतिहास उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और काव्य में उस वस्तु का वर्णन रहता है जो घटित हो सकती है। इसी लिए काव्य का स्वरूप इतिहास से श्रेष्ठतर है। उसमें सामान्य(सार्वभौम) की अभिव्यक्ति होती है, जबकि इतिहास में विशेष की। सामान्य या सार्वभौम से अरस्तू का अभिप्राय यह था कि कोई व्यक्ति-विशेष किस संभाव्यता या आवश्यकता के नियम के अनुसार किसी अवसर पर कैसे व्यवहार करेगा। "नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से इसे सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होती है।" अरस्तू की ये स्थापनाएँ पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की मूलाधार बन गईं। उसके समय में महाकाव्य ट्रैजेडी, कामेडी और गीत-काव्य के अलावा काव्य और साहित्य के अन्य रूप-प्रकारों का विकास नहीं हुआ था, और उसका सारा विवेचन परिचित रूप-प्रकारों पर ही आधारित है, लेकिन सांस्कृतिक पुनर्जागरण के समय से ही उसकी उद्भावनाओं को साहित्य और कला के अन्य सभी नये रूप-प्रकारों पर भी सामान्यतः घटित किया जाता रहा है।

लौंजाइनस

यूनानी काव्य-शास्त्र में अरस्तू के बाद केवल लौंजाइनस का नाम ही उल्लेखनीय है। लौंजाइनस के व्यक्तित्व और समय के बारे में काफी मत-भेद है। कुछ लोगों का मत है कि लौंजाइनस रानी जेनोबिया का मंत्री था और उसका ग्रन्थ 'काव्य में उदात्त तत्त्व' ईसा की तीसरी शती की रचना है। कुछ लोगों के अनुसार उसका समय ईसा की पहली शताब्दी है। जो भी हो, इस महान यूनानी आलोचक की दृष्टि सर्वथा मौलिक थी। उसने प्लैटो और अरस्तू द्वारा उठाये गये काव्य-संबंधी तात्त्विक प्रश्न न उठाकर एक नयी ही दृष्टि से साहित्य-तत्त्व का विवेचन और स्वरूप-निरूपण किया। अरस्तू की इस स्थापना को मानकर कि कविता से दर्शक (या पाठक)

को एक विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है, उसने भावक के मन पर पड़ने-वाले आनन्ददायी प्रभाव का अध्ययन करके पहली बार आनन्दानुभूति की प्रक्रिया का निरूपण किया। भाषण-कला के प्राचीन सिद्धान्तों में भी इस प्रक्रिया का अध्ययन किया गया था, कम-से-कम इस सीमा तक कि शब्दों का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए कि श्रोता उनसे प्रभावित हो जाय। लौंजाइनस ने इस स्थूल सीमा को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसकी दृष्टि में हर प्रकार का प्रभाव अपने-आपमें मूल्यवान नहीं होता। *उसके अनुसार साहित्य का मूल्य इस बात से आंकना चाहिए कि किसी कृति को सुन या पढ़कर, अंतरीक्षण द्वारा पाठक या श्रोता प्रभावित और मुग्ध होता है या नहीं।* यदि मुग्ध होता है तो यह अनुभव अपने-आपमें मूल्यवान है, क्योंकि, लौंजाइनस के अनुसार भाव-विचारों की केवल उदात्तता और महनीयता ही सहृदय व्यक्ति को मंत्रमुग्ध कर सकती है। *इस प्रकार काव्यानुभूति का संबंध लौंजाइनस ने मनुष्य की उच्चतम प्रवृत्तियों* से जोड़ने की चेष्टा की। ऐसा उदात्त प्रभाव डालना ही साहित्य का लक्ष्य, प्रयोजन, मूल्य और औचित्य है, क्योंकि औदात्य ही पाठक को आनन्द-विभोर और मुग्ध कर सकता है।

लौंजाइनस को अब योरप का प्रथम स्वच्छन्दतावादी आलोचक माना जाता है। लेकिन अठारहवीं शती तक पाश्चात्य आलोचक उसके *'काव्य में उदात्त तत्त्व' के सिद्धान्त को एक आलंकारिक सिद्धान्त के रूप में* ही समझते आये थे। उनके अनुसार लौंजाइनस ने भाषा के प्रभावकारी प्रयोग का ही अध्ययन किया था। लेकिन लौंजाइनस वास्तव में एक महान आलोचक था, जिसने यह उद्भावना की कि औदात्य का गुण ही महान लेखक की विशिष्टता होती है और जिसकी कृति में यह गुण हो वह स्वतः आनन्ददायी होती है। लौंजाइनस के अनुसार किसी काव्य-कृति में उदात्त गुण तभी उत्पन्न होता है जब उसका लेखक महान विचारों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, यानी उसमें महान विचारों की अवधारणा करने की क्षमता हो, और दूसरे, जब उसकी वाणी में वास्तविक और सच्ची रागात्मकता का

उत्पन्न हो। उदात्त-गुण के इन दो मूलभूत स्रोतों के बाद ही विशिष्ट शैली, शब्द-विन्यास, शब्द-योजना और अलंकरण का प्रश्न उठता है। लौंजाइनस ने लेखक, कृति और पाठक तीनों के पारस्परिक संबंध का विवेचन करते हुए इन से सम्बद्ध प्रश्नों का भी सतर्क विवेचन किया है। साहित्य की कोई कृति अगर विभिन्न वर्ग एवं मतावलम्बियों, आयु और भाषा के लोगों को एक बार ही नहीं बल्कि बार-बार भी प्रभावित और उनके रागों को जाग्रत करे तो उसकी महानता असंदिग्ध होती है। साहित्य की महानता का यह मानदंड लौंजाइनस ने निर्धारित किया। उसने बार-बार इस बात को दुहराया कि साहित्य में आंदोलित और प्रभावित करने की क्षमता होनी चाहिए, और यह तभी संभव है जब लेखक की आत्मा सचमुच उदात्त और शालीन हो, क्योंकि जिन लेखकों के जीवन में क्षुद्रता और दासभाव है, वे किसी ऐसी चमत्कारपूर्ण और महान कृति का सृजन कर ही नहीं सकते जो अमरता का दावा करे।

: ३ :

लातीनी आलंकारिक

सिसरो : होरेस : क्विन्टीलियन

अरस्तू और लौंजाइनस के बीच की दीर्घ अवधि में आलोचना और साहित्य-सिद्धान्त के बजाय भाषण-कला और अलङ्कार-शास्त्र का ही विकास होता रहा था, और इसमें यूनानी विचारकों से अधिक रोम के लातीनी विचारकों—सिसरो, होरेस और क्विन्टीलियन—ने विशेष योग दिया था। अरस्तू अपनी पुस्तक 'भाषण-शास्त्र' (Rhetorics) में भावों को व्यक्त करने के लिए अलंकृत भाषा-प्रयोग के जो नियम निर्धारित किए थे, लातीनी विचारकों ने एक प्रकार से उनकी ही विवृति की है। सिसरो एक अभिजात-

रुचि का विद्वान था और उसने कोई मौलिक स्थापना न करके केवल अरस्तू के विचारों का पिष्ट-पेषण ही किया। होरेस रूढिवादी था, और यूनानी साहित्य का अंध-भक्त था। उसका कहना था कि जो कृति काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी हो, उसको ही आदर्श मानना चाहिए। इसके अलावा उसने अरिस्तोफनीज, प्लैटो और अरस्तू के विचारों का मन्थन करके काव्य-प्रयोजन के बारे में उस सूत्र की उद्‌भावना की जिसका शताब्दियों तक पाश्चात्य आलोचना में एक सूक्ति के रूप में प्रयोग होता रहा। उसने कहा कि कविता का उद्देश्य "शिक्षा देना है या आनन्द देना या दोनों ही।" हमारे यहां के आलंकारिकों की तरह होरेस ने भी कविता के रूप-तत्त्व (form) का ही विशेषरूप से विवेचन किया है। रचना-शिल्प, शब्दों की आत्मा और कविता के विभिन्न प्रकार—काव्य के इन बाह्यांगों का निरूपण करते हुए उसने काव्य-रीति के नियमों के पालन पर विशेष जोर दिया। क्विन्टीलियन भी रीतिकार ही था, और उसने भी काव्य के वस्तु-पक्ष का विवेचन नहीं किया। लेकिन वह पहला पाश्चात्य आलंकारिक है जिसने गद्य के रचना-शिल्प को इतना महत्व दिया। गद्य-लेखन भी एक कला है और उसमें उचित शब्दों का चयन, स्पष्टता, संक्षेप में अधिक कहने की क्षमता, विशिष्ट रूप-विन्यास, सहजता, प्रभविष्णुता और हास्य और व्यंग्य की पुट—ये सब गुण आवश्यक होते हैं ताकि वह हृदय पर सीधा प्रभाव डाले। शैली और वाक्य-विन्यास, शब्दों की ध्वनि और लय—गद्य-रचना में भी इन पहलुओं पर भी लेखक का ध्यान रहना चाहिए। इसके अलावा क्विन्टीलियन की एक देन यह भी है कि उसने आलोचना में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली का निश्चित और प्रामाणिक अर्थ-निर्धारण किया।

दांते

इन यूनानी और लातीनी काव्य-शास्त्रियों के बाद तीसरी शती से लेकर तेरहवीं शती तक पाश्चात्य-जगत में कोई उल्लेखनीय साहित्य-

विचारक पैदा नहीं हुआ। तेरहवीं शती में दांते-जैसे महान इतालवी कवि का जन्म पाश्चात्य साहित्य की एक असाधारण घटना है। उसकी प्रतिभा एक हजार साल तक संकीर्ण धार्मिक मतवाद के नीचे दबी मानवीय आकांक्षाओं का उद्दाम स्फुरण थी। वस्तुत: दांते सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत है। उसने अपने महाकाव्य 'डिवाइन कॉमेडी' की रचना साहित्य की प्राचीन और परिमार्जित भाषा लातीनी में न करके जन-बोली 'इतालवी' में की। इसलिए उसके सामने यह प्रश्न उठा कि काव्य में लोगों की प्राकृत-भाषा का प्रयोग करते भी उसको ग्राम्यता और क्षुद्रता से कैसे बचा जा सकता है। दांते ने काव्य-रचना में दो तत्वों को प्रधान माना। काव्य की विषय-वस्तु का चुनाव और उसके अनुरूप भाषा का प्रयोग। यदि काव्य-विषय, उसकी भाव-विचार-वस्तु महान न हो तो कितने भी रचना-कौशल से महान कविता की रचना असंभव है। दांते की दृष्टि में देश-प्रेम नारी-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, केवल ये तीन विषय ही महान कविता के लिए उपयुक्त हैं। इन विषयों को सम्यक् रूप से अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों का ही कविता में सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। अतः दांते के लिए काव्य-रचना एक यत्नसाध्य साधना थी।

: ४ :

पाश्चात्य आलोचना में आधुनिक युग का सूत्रपात

सर फिलिप सिडनी

इसके बाद फिर सोलहवीं शती के अंत तक पाश्चात्य जगत में कोई उल्लेखनीय आलोचक नहीं हुआ,[1] यद्यपि इस बीच मध्ययुगीन प्रतिबन्धों के शिथिल

---

१. संत टामस, पेट्रार्क और बोकेशियो की कृतियों में कविता और

पड़ जाने के कारण विभिन्न देशों में राष्ट्रीय साहित्यों का आरंभिक विकास चौदहवीं शती से ही होने लगा था। राष्ट्रीय साहित्यों की ये धाराएं यथार्थवादी और स्वच्छन्दतावादी (रोमान्टिक) प्रवृत्तियों से ओतप्रोत थीं। इंगलैण्ड के दरबारी कवि सर फ़िलिप सिडनी की मृत्यु के बाद सन् १५९५ ई० में जब उसका 'कविता की वकालत' (The Defense of Poesie) नाम से पद्यात्मक निबंध प्रकाशित हुआ, तब से ही आधुनिक पाश्चात्य आलोचना की अविच्छिन्न परम्परा का आरंभ समझना चाहिए। उस समय तक इंगलैण्ड में चॉसर, स्पेन्सर, लिली, मार्लो और कई दूसरे प्रसिद्ध कवि हो चुके थे, और साहित्य-जगत में शेक्सपियर और बेन जॉन्सन का पदार्पण हो चुका था, लेकिन सिडनी के निबंध के शीर्षक से ही प्रमाणित होता है कि प्यूरिटन धर्म के प्रभाव के कारण कविता का समाज में विशेष आदर नहीं था। अन्यथा कविता की वकालत का प्रश्न ही न उठता। प्यूरिटनों का कविता से विरोध प्लेटो की तरह तात्त्विक और दार्शनिक आधार पर नहीं था। वे कविता को झूठ और अनाचार फैलानेवाली अनैतिक वस्तु समझते थे। इसलिए सिडनी का उत्तर भी अरस्तू की तरह काव्य के मूलभूत सत्यों का निरूपण नहीं करता, अधिकतर उच्छ्वासपूर्ण उद्‌गारों से भरा हुआ है। उसके तर्कों का दार्शनिक और प्रकारान्तर से आलोचनात्मक मूल्य अधिक नहीं है। कविता की हिमायत में उसका मुख्य तर्क यह है कि कविता आदिकाल से होती चली आ रही है और मनुष्य को सभ्य और संस्कृत बनाने में कविता का योगदान अपरिमित है। कविता कल्पना-सृष्टि होती है, इसलिए उसमें वर्णित कहानी भले चाहे सच्ची न हो, लेकिन अन्योक्ति के रूप में वह नैतिक सत्यों की शिक्षा देने में साधारण

परमार्थ विद्या के संबंध के बारे में स्पष्ट विचार मिलते हैं, लेकिन उनकी स्थापनाएं साहित्य-तत्त्व के बारे में कोई नयी दृष्टि प्रदान नहीं करतीं। जूलियस सीज़र स्केलीगर और दूसरे इतालवी आलोचकों ने भी कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की, म इ, बेले आदि फ़ैन्च विद्वानों ने ही।

वक्तव्य से अधिक प्रभावकारी होती है। इस प्रकार सिडनी ने प्लैटो तथा अन्य यूनानी कवियों की कृतियों से उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की कि विज्ञान, इतिहास और नीति-दर्शन की अपेक्षा कविता अधिक सुन्दर और रमणीय ढंग से सत्य का प्रतिपादन और प्रेषण कर सकती है। सिडनी ने यह मानते हुए कि अधिकतर कविताएँ छिछोरी और निन्दनीय होती हैं, कहा कि "सच्ची कविता को, जो ईमानदार और सत्य-परक होती है, हास्यास्पद नहीं समझना चाहिए। रोमन लोग कवि को द्रष्टा और पैग़म्बर समझते थे। वह इसलिए कि कवि एक स्रष्टा है, अन्य प्रकार के दस्तकारों और वैज्ञानिकों से भिन्न। और वह जिस कल्पित संसार की सृष्टि करता है, वह वास्तविक संसार से श्रेष्ठतर होता है।" यहाँ पर यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि अरस्तू ने संभाव्य का वर्णन करने के कारण काव्य-सृष्टि को सत्य-सृष्टि से श्रेष्ठ होने की जो तात्विक बात कही थी, सिडनी का अभिप्राय उससे भिन्न है। सिडनी की दृष्टि में लोक-धर्मी मानदंडों से भी काव्य-सृष्टि श्रेष्ठतर होती है। "वास्तविक जीवन क्षुद्रता-पूर्ण है, कवि एक स्वर्णिम संसार की रचना करता है।" लेकिन सिडनी ने एक तात्विक महत्व की स्थापना भी की, जो अरस्तू के अनुकृति के सिद्धान्त को एक नये ढंग से पेश करती है। अरस्तू ने प्रच्छन्न रूप से प्लैटो के अभियोग का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया था कि कविता जीवन की मूलभूत संभावनाओं का अनुकरण है न कि उसकी आकस्मिक यथातथ्यता का, जिसके कारण कवि इतिहासकार या दार्शनिक की अपेक्षा अधिक गहराई से वास्तविकता की प्रतीति कर सकता है। सिडनी ने यद्यपि 'अनुकृति' शब्द का तो प्रयोग किया है, लेकिन उसकी दृष्टि में कवि की कल्पना वास्तविकता की ओर अधिक गहराई से प्रतीति नहीं कराती, बल्कि एक नया ही संसार रचती है जो वास्तविक संसार से श्रेष्ठतर होता है। दरअसल कवि आदर्श संसार की कल्पना प्रस्तुत करके लोगों को शिक्षा देता है। इस

१. सिडनी ने यह सिद्ध करना चाहा कि कविता 'आदर्श-विचार-तत्त्व सत्य की अनुकृति प्रकृति की अनुकृति नहीं होती, जैसा कि प्लैटो का

अभियोग था, बल्कि कवि द्वारा साक्षात्कार किए हुए सत्य की अनुकृति होती है। कवि विषयी है और विषय की प्रतीति वह अपनी विशिष्ट दृष्टि से करता है, अतः उसकी कल्पना-सृष्टि उसके व्यक्तित्व को भी अभिव्यंजना होती है—इस तरह के निष्कर्ष इस स्थापना से निकल सकते थे, लेकिन सिडनी का उद्देश्य इस विवेचन को अधिक मौलिक उद्भावनाओं का आधार बनाना नहीं था। वह तो सिर्फ सिद्ध करना चाहता था कि दर्शन और इतिहास की अपेक्षा कविता नैतिकता की शिक्षा देने का अधिक प्रभावकारी माध्यम है। इस प्रकार सिडनी ने अरस्तू के अभिप्राय को संकीर्ण बना दिया। कवि, उसकी दृष्टि में, केवल नैतिकता का प्रचारक-मात्र होता है।

जॉन ड्राइडन

सिडनी के बाद जॉन ड्राइडन (१६३१-१७०० ई०) पाश्चात्य जगत का सब से महान आलोचक हुआ है। बीच की इस अवधि में सैम्युअल डैनियल ने 'छन्द के समर्थन में' एक पुस्तक सन् १६०२ में लिखी थी, जिसमें अंग्रेज़ी की पद्य-रचना को कठोर नियमों में बांधने का आग्रह किया गया था। बेन जॉन्सन शेक्सपियर का समकालीन और उसका प्रतिद्वन्द्वी भी था। एक महत्वपूर्ण नाटककार होने के अतिरिक्त वह एक महान विद्वान भी था। साहित्य और उसकी प्रवृत्तियों के बारे में उसने अपने समय में बहुत लिखा, लेकिन कोई नया साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। केवल शैली के संबंध में बेन जान्सन के विचार आज भी महत्व रखते हैं, यद्यपि उनमें पर्याप्त यांत्रिकता है। ड्राइडन, पोप और डाक्टर जॉन्सन ने इन पूर्ववर्ती आलोचकों से प्राचीन ग्रन्थों के विषय में सीखकर साहित्य-तत्त्व के बारे में नयी उद्भावनाएं कीं, जिनका महत्व आज भी स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत फ्रान्स में ड्राइडन के समकालीन कार्नील, रैसीन, निकोलस बुअलो और ला' बॉस आदि रूढ़िवादी आलोचकों का प्रभाव बढ़ रहा था। अठारहवीं शताब्दी की फ्रेंच आलोचना पर विशेषकर बुअलो की यांत्रिक

मान्यताएं एकछत्र साम्राज्य करती रहीं। इन लोगों का आग्रह था कि प्राचीनकाल में साहित्य-रचना के जो नियम निर्धारित किए गये थे, वे प्रकृति को तरतीब और सामंजस्य देनेवाले नियम थे, इसलिए उनका अक्षरशः पालन नितान्त आवश्यक है। ड्राइडन की प्रतिभा इस तरह के रूढ़िग्रस्त रीतिवादियों के प्रभाव से कुंठित नहीं हुई और उसने उनका विरोध करते हुए अपनी साहित्य-संबंधी मान्यताओं का प्रतिपादन किया।

ड्राइडन एक युगचेता कवि और आलोचक था। उसके आलोचनात्मक निबंधों और भूमिकाओं से स्पष्ट है कि परम्परा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी वह नवीन की उपलब्धियों के प्रति उदासीन नहीं था। इसलिए चॉसर, शेक्सपियर और मिल्टन की कविता का उसने जो मूल्यांकन किया, वह परवर्ती मूल्यांकन का आधार बनता आया है। कविता क्या है, कविता का क्या प्रयोजन है और एक कलाकृति का मूल्य क्या होता है, इन तात्त्विक प्रश्नों पर ड्राइडन ने अपने पूर्ववर्ती सभी आलोचकों से अधिक गहरी दृष्टि डाली है। प्लेटो के अनुसार कविता वास्तविकता की अनुकृति की अनुकृति है, अरस्तू के अनुसार वस्तु का सम्यक् चयन और घटनावली की सामंजस्यपूर्ण संघटना द्वारा कवि वास्तविकता की गंभीरतर प्रतीति कर सकता है, जो साधारण अनुभव द्वारा संभव नहीं है। सिडनी के अनुसार कवि वास्तविक जगत से श्रेष्ठतर एक काल्पनिक जगत की सृष्टि करता है ताकि उससे पाठक का नैतिक स्तर ऊंचा उठ सके। ड्राइडन ने इन सब बातों से भिन्न यह प्रतिपादित किया कि कवि का कार्य यह है कि वह जीवन को जैसा और जिस रूप में पाये उसको वैसा ही चित्रित करे। फ्रान्सीसी नाटककारों और आलोचकों को लक्ष्य करके, जो अरस्तू के नाम पर संकलन-त्रय (काल की अन्विति, देश की अन्विति और कथानक की अन्विति) को नाट्य-रचना का एक शाश्वत, अनुल्लंघ्य नियम मान बैठे थे, ड्राइडन ने साहसपूर्वक कहा कि, "यह तर्क काफी नहीं है कि अरस्तू ने ऐसा कहा था, क्योंकि ट्रैजेडी के आदर्श की कल्पना उसने सोफोक्लीज और यूरीपिडीज के नाटकों के आधार पर की थी। उसने अगर हमारे नाटकों को देखा होता तो संभव है कि वह

अपना विचार बदल देता।" अठारहवीं शताब्दी में इस तरह का वक्तव्य सचमुच क्रान्तिकारी था। ड्राइडन का दावा था कि अंग्रेजी मे (शेक्सपियर आदि) ट्रैजेडी के अधिक उन्नत और सम्यक् रूप का विकास हो चुका है, जो यूनान मे दुर्लभ था। इसका कारण केवल भाषा का भेद ही नही था, बल्कि यह कि इस बीच मनुष्य में चारित्रिक और रुचि-संबंधी अनेक गभीर परिवर्तन हो चुके हैं, जिसके परिणामस्वरूप कवि प्राचीन की नकल ही नही करते जा सकते। इस प्रकार ड्राइडन पहला आलोचक है जिसने अपने देश-काल और समाज की चेतना से कवि की चेतना का अगागि सबध दिखाते हुए यह सिद्ध किया कि कवि अपने राष्ट्र और युग की उन आकाक्षाओ को अभिव्यक्ति देता है, जो उसकी प्रगति के अनुकूल होती हैं। काव्य का क्या प्रयोजन है इस बारे मे होरेस का यह फार्मूला कि कविता का कार्य "शिक्षा देना और मनोरजन करना है", व्यापक रूप से मान्य चला आ रहा था। लौंजाइनस ने एक तीसरा 'भावोद्रेक' करने का प्रयोजन भी इसमें जोड़ा था, लेकिन सिडनी ने नैतिक शिक्षा के उद्देश्य को ही प्रमुखता दी थी, और मनोरंजन को इस शिक्षा का अनिवार्य सहचर माना था। ड्राइडन ने सिडनी की मान्यता को उलटकर कहा कि "आनन्द ही एकमात्र नही तो सबसे प्रमुख, काव्य का साध्य है। शिक्षा को मान्यता दी जा सकती है, किन्तु गौण रूप मे ही।" लेकिन यह आनन्द अनेक प्रकार का हो सकता है, सस्ता मनोरजन भी कुछ लोगो के लिए आनन्ददायी होता है। इसलिए ड्राइडन ने आनन्द की व्याख्या करते हुए बताया कि कविता का आनन्द आत्मा को प्रभावित करने, भावो का उद्रेक करने और उदात्त भावना को जाग्रत करने मे निहित होता है। एक प्रकार से यह लौंजाइनस के मत का ही समर्थन था कि कविता मनुष्य को अपने से ऊपर उठाती है। सौन्दर्य ही इस आनन्द का मूल-स्रोत है। ड्राइडन के अनुसार कविता मानव-स्वभाव की अनुकृति प्रस्तुत करती है, लेकिन यह अनुकृति मात्र फोटो-कापी नहीं होती, बल्कि कवि मानव-स्वभाव का प्राणवान और सुन्दर बिम्ब-चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमे मनुष्यों के अन्तरतम भाव और राग-द्वेष प्रतिबिम्बित होते हैं और

पोप : डा० जॉन्सन

ड्राइडन के बाद इंगलैण्ड में (अठारहवीं शती का पूर्वार्ध) अनेक महत्त्वपूर्ण आलोचक हुए, पोप, डाक्टर जॉन्सन, एडीसन, बर्क आदि, लेकिन इनमें पहले दो ही उल्लेखनीय हैं। पोप का 'आलोचना पर निबंध', सिडनी के पद्यात्मक निबंध 'कविता की वकालत' की तरह 'कविता के स्वरूप और उसके मूल्य' की जांच-पड़ताल के लिए नहीं लिखा गया था। उसमें निष्पक्ष आलोचना की कठिनाइयों, अच्छे आलोचक के गुणों और साहित्य-रुचि का विवेचन किया गया है। साहित्य क्या है और उसका क्या प्रयोजन है, इन मूलभूत प्रश्नों पर पोप ने अपने विचार नहीं प्रकट किए। वह एक प्रकार से प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं को अतर्क्यभाव से स्वीकार करके चला, इसलिए निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह होरेस का समर्थक है या ड्राइडन का—नैतिक शिक्षा को साहित्य का प्रयोजन मानता है या मानव-स्वभाव की अनेकरूपता से परिचित कराने को ही 'शिक्षा' समझता है। लेकिन डाक्टर जॉन्सन और पोप के विचारों से साहित्य की एक मूलभूत समस्या पर प्रकाश पड़ा है। अरस्तू ने कहा था कि कविता सामान्य सत्य को स्थापित करती है, इसलिए इतिहास की अपेक्षा उसमें दार्शनिक गांभीर्य अधिक होता है। ड्राइडन ने इस स्थापना को किंचित् बदलकर कहा था कि कविता मानव-स्वभाव (प्रकृति) को स्थापित करती है; यहां स्वभाव से उसका तात्पर्य 'सत्य' से था। पोप और जॉन्सन ने इन स्थापनाओं से यह अर्थ निकाला कि कविता में मनुष्य के सामान्य स्वभाव की ही अनुकृति होती है, विशिष्ट की नहीं। इससे पाश्चात्य आलोचना के सामने एक बुनियादी प्रश्न उठ खड़ा हुआ। कविता में यदि सामान्य-स्वभाव (प्रकृति) की अनुकृति होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि केवल सामान्य ही सत्य है, वास्तविक है और मानव-स्वभाव अपरिवर्तनीय है, देश-काल-समाज के भेद के बावजूद उसका वास्तविक स्वरूप शाश्वत और चिरंतन है, और विभिन्न मनुष्यों के स्वभावों में जो फर्क दिखायी देता है वह बुनियादी नहीं है, केवल ऊपरी है। वस्तुतः मानव-प्रकृति को प्रकाशित और

रूपायित करनेवाला सिद्धान्त यह मानकर ही टिक सकता है कि मानव-प्रकृति मूलतः अपरिवर्तनीय है, अन्यथा उसे यह मानना पड़ेगा कि देश-काल बदलते ही मानव-स्वभाव भी बदल जाता है, अतः हर युग का साहित्य केवल अपने युग में ही मूल्यवान हो सकता है, अगले युगों में उसकी सार्थकता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार पोप और जॉनसन का दृष्टिकोण मूलतः तो सही था, कि साहित्यकार मानव की सामान्य प्रकृति का उद्घाटन करता है, लेकिन उनका यह कहना कि कविता में मानव-स्वभाव की विशिष्टताओं—विशिष्ट मनुष्यों की विशिष्ट प्रतिक्रियाओं—का चित्रण न करके केवल उन प्रतिक्रियाओं का ही चित्रण करना चाहिए जो सामान्य हैं, हर काल और हर देश में एक-जैसी हैं, उन्होंने विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति की समस्या को नहीं समझा। कला 'विशेष' के माध्यम से 'सामान्य' को रूपायित करती है। यदि ऐसा न हो तो सामान्य का मूर्त चित्रीकरण हो ही नहीं सकता और कविता दर्शन की तरह अमूर्त विचारों का पुंज बन जाय। इस एकांगिता के बावजूद डाक्टर जॉन्सन शेक्सपियर की कृतियों का वस्तुपरक मूल्यांकन करने में समर्थ हुआ, यानी व्यावहारिक आलोचना में वह ड्राइडन के अधिक निकट था। शेक्सपियर की नाट्य वस्तु और नाट्य-संवादों का निर्माण चयन करके किया गया है, इसलिए उनका संपूर्ण प्रभाव यथार्थ और शक्तिशाली होता है; लगता है जैसे सामान्य लोगों का सामान्य वार्तालाप हो। इस विवेचन में 'विशेष' के माध्यम से 'सामान्य' को रूपायित करने के सिद्धान्त का अन्तर्भाव है। डाक्टर जॉन्सन ने ड्राइडन के विचार-सूत्र का विकास करते हुए यह महत्त्वपूर्ण स्थापना की कि साहित्य में जब सामान्य मानव-स्वभाव (प्रकृति) का उद्घाटन होता है, तो दर्शक या पाठक उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। यह तादात्म्य उसकी स्मृति के जाग्रत हो जाने से सम्पन्न होता है। आवश्यक नहीं कि वह नाटक या काव्य में वर्णित पात्र में अपने ही स्वभाव की अनुकृति देखे, लेकिन उसकी स्मृति में सुप्त पड़ी चेतना जाग्रत हो जाती है और उसे यह प्रतीति होती है कि वह उस पात्र या घटना से जैसे पहले से ही परिचित

है। लेकिन इस प्रश्न के बारे मे कि कवि सामान्य भावो को रमणीय *अभिव्यक्ति देता है या मानव-स्वभाव के अज्ञात और नवीन सत्यो का भी* उद्घाटन करता है, डा० जॉन्सन के विचार बहुत स्पष्ट नही हैं। जहां तक कविता के प्रयोजन का प्रश्न है, डा० जॉनसन का मत है कि कविता मानव-स्वभाव का अनुकरण करने के साथ ही शिक्षा भी देती है, नैतिक अर्थ मे।

अठारहवी शती, पाश्चात्य आलोचना मे, नियो-क्लासिक और रोमान्टिक विचारधाराओं के संघर्ष की शती है। दरअसल नियो-क्लासिक (नव्य-शास्त्रवादी) आलोचको का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण और रूढ़िवादी था। रूढ़ि मे भी वे केवल रचना में नियम-पालन पर ही ज़ोर देते थे, *होमर, सोफोक्लीज़, एस्केलीज़ या यूरीपिडीज़ के साहित्य का सही मूल्यांकन* करने की क्षमता उनमे नही थी। हमारे शास्त्रीय आलोचकों की तरह वे भी नये या पुराने साहित्य के मर्मज्ञ नहीं थे, केवल काव्य-लक्षणो और नियमो के विद्वान थे। इसलिए स्वच्छन्दतावादी विचारको ने उनकी इस संकीर्ण रूढ़ि-प्रियता का जर्मनी, फ्रान्स, इग्लैण्ड, इटली, सभी देशो मे विरोध किया। योरप के सामाजिक जीवन मे महान परिवर्तन हो रहे थे, और सामन्ती व्यवस्था का अन्त निकट था। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा लेकर नवजात पूँजीवादी-वर्ग शक्ति-सचय कर रहा था। इस अनुकूल वातावरण मे स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म) की भावना साहित्य की मूल प्रेरणा बनती जा रही थी। शेक्सपियर उसके आरंभिक दौर का महान स्फुरण था।

लेसिंग

इस बीच जर्मनी मे एक महान आलोचक और नाटककार हुआ—*गाट्होल्ड एफ्राइम लेसिंग* (१७२९–१७८१ ई०)। *लेसिंग* का आलोचनात्मक दृष्टिकोण अरस्तू से प्रभावित है, लेकिन उसने अपने प्रसिद्ध निबंध 'लैकून' में कलाओ के परस्पर-संबंध और मूलभेदो का निरूपण किया। विशेषकर चित्रकला और कविता के बारे में आरंभ से ही आलोचको के मनो मे काफी अस्पष्टता थी। प्लूटार्क के समय से यह ग़लतफ़हमी चली

आ रही थी। प्लूटार्क ने लिखा था कि सिमोनिडीज की दृष्टि में 'चित्र मूक कविता है और कविता बोलता हुआ चित्र।' तब से यही धारणा बनी हुई थी कि चूंकि समस्त कला अनुकृति-मूलक है, इसलिए कला के विभिन्न माध्यम (शब्द, स्वर, रंग और रेखाएं आदि) एक ही वास्तविकता को स्थापित करने के विभिन्न साधन-मात्र हैं। सभी कलाओं में इस तरह का आन्तरिक साम्य होता है, यह मत प्राचीन काल से ही मान्य रहा है। हर क्षेत्र के कलाकार सामान्य सौन्दर्य-नियमों के अनुसार अपने-अपने माध्यम द्वारा रूप-सृष्टि करते हैं, इसलिए कविता की तुलना चित्र या मूर्ति से की जा सकती है। विभिन्न कलाओं में साम्य की यह प्रतीति एक महान उपलब्धि थी। अरस्तू ने भी इस प्रचलित मान्यता के आधार पर ही कुछ सामान्य सौन्दर्य-नियमों की उद्भावना की थी जो सब कलाओं पर लागू होते हैं, जैसे हर कृति एक सर्वांग-संपूर्ण इकाई होनी चाहिए, जिसके सभी अवयव इस प्रकार अंगांगि-भाव से नियोजित हों और इतने मासल (आकार-युक्त) हों कि दर्शक के मन पर मनोवांछित प्रभाव डाल सकें। बेन जॉन्सन ने भी प्लूटार्क की सूक्ति को ही दुहराया था और बीसवीं शताब्दी में क्रोचे ने भी इसका समर्थन किया है। लेकिन लेसिंग ने 'लैकून' के प्राचीन आख्यान का आधार लेकर व्यावहारिक आलोचना का एक मौलिक प्रश्न उठाया। दार्शनिक स्थापनाएं करना उसका अभिप्राय नहीं था।

लेसिंग का कहना है कि कविता, चित्र, मूर्ति आदि के माध्यम एक-दूसरे से भिन्न हैं, इस कारण ही उनमें वास्तविकता का रूपायन करने की प्रणालियां भी भिन्न हैं। विशेष ढंग से अपने माध्यम का प्रयोग करके ही हर क्षेत्र का कलाकार अपने दर्शक या श्रोता के मन पर पूरा प्रभाव डाल सकता है। उदाहरण के लिए कविता का माध्यम शब्द हैं, जिनका पंक्ति में क्रमानुसार प्रयोग किया जाता है, यानी उनकी संघटना काल-सन्दर्भ में होती है, जबकि चित्र का विन्यास देश-सन्दर्भ में होता है। सृष्टि करते समय कवि या चित्रकार का मन देश-काल-निरपेक्ष रहता है या नहीं, लेसिंग इस प्रश्न को प्रासंगिक नहीं समझता। उसके लिए तो सिर्फ यह जानना ही

पर्याप्त है कि कविता में शब्द-योजना काल-सन्दर्भ में और चित्र में रेखा-कृतियों की योजना देश-सन्दर्भ में होती है, और माध्यम का यह भेद ही दोनों कोटि के कलाकारों की रचना-प्रणाली को एक-दूसरे से भिन्न कर देता है। इस तथ्य पर जोर देने का अभिप्राय यह था कि कलाकार अपने विशिष्ट माध्यम का गंभीर अध्ययन करे और उसका प्रयोग इस कौशल से करे कि दर्शक या श्रोता के मन पर पूरा प्रभाव पड़ सके। दर्शक या श्रोता को पूरी तरह प्रभावित करने का तात्पर्य ही यह है कि लेसिंग कला की प्रेषणीयता को सबसे अधिक महत्व देता था। अभिव्यक्ति की सार्थकता तभी है जब उसमें निहित भाव-विचार-वस्तु दर्शक और श्रोता के लिए भी संप्रेष्य हो। हर अभिव्यक्ति एक निवेदन होती है, इसलिए हर क्षेत्र के कलाकार के सामने अपने मन के भाव को ऐसा मूर्त रूप देने की समस्या रहती है, जो संप्रेष्य हो। अपने माध्यम की विशिष्टताओं और सीमाओं का ज्ञान होने पर ही कलाकार सार्थक रचना की सृष्टि कर सकता है। कविता और कला के विशिष्ट माध्यमों का विवेचन करते हुए लेसिंग ने सिद्ध किया कि चित्र में जहां किसी एक क्षण का चित्रण प्रमुख तत्त्व होता है, वहां साहित्य वर्णन-प्रधान होता है। कोरा शब्द-चित्रण साहित्य के प्रभाव को नष्ट कर सकता है। यह अत्यन्त मौलिक भेद है। तब से 'चित्रण बनाम वर्णन' गंभीर सैद्धान्तिक बहसों का विषय रहा है, क्योंकि अनेक ऐसे साहित्यकार हुए हैं, जो अपने शब्द-चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। लेकिन उनके शब्द-चित्रण में भी जीवन की गतिमय वास्तविकता, पात्रों की बौद्धिक और भावात्मक प्रति-क्रियाएं भी अन्तर्गुम्फित मिलती हैं। जहां ऐसा नहीं है और कोरे शब्द-चित्रण का बाहुल्य है, वहां उसका प्रभाव नीरस हो गया है। स्मरण रहे कि भारतीय आचार्यों ने भी चित्र-काव्य को हीन-कोटि का बताया है। इस प्रकार लेसिंग ने कविता (साहित्य) और चित्र के नियमों को एक-दूसरे से भिन्न बताकर कला-निर्मिति के एक सार्वभौम सौन्दर्य-नियम का उद्घाटन किया।

शिलर

लेसिंग और वर्ड्सवर्थ के बीच अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में जर्मन कवि और नाटककार शिलर (१७५९–१८०५ ई०) और जर्मन महाकवि गेटे (१७४९–१८३२ ई०) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। शिलर ने 'सरल तथा भावुकतापूर्ण' कविता पर अपने प्रसिद्ध निबंध में प्राचीन यूनानी कविता और आधुनिक (तत्सामयिक) योरपीय कविता की तुलना करते हुए लिखा कि यूनानी सभ्यता प्रकृति की गोद में पली थी। प्रकृति से उसका विच्छेद नहीं हुआ था, इसलिए यूनानी कविता सरल है, प्रकृति का उसमें भावुकतापूर्ण वर्णन नहीं मिलता, लेकिन वर्तमान कवि का प्रकृति से सीधा तादात्म्य नहीं रहा, वह प्रकृति की खोज में अविरत लगा हुआ है, क्योंकि प्रकृति ही वह ज्योति है जो कवि-हृदय को आलोक और भावोष्णता प्रदान करती है। इसलिए आधुनिक (स्वच्छन्दतावादी) कविता भावुकतापूर्ण है, उसमें यूनानी कविता का सहज सारल्य नहीं रहा। स्पष्ट है कि शिलर के इस विवेचन में तात्त्विक गहराई नहीं है। गेटे ने, जो आधुनिक योरपीय चेतना का अग्रदूत ही नहीं, सबसे गंभीर प्रतिनिधि भी माना जाता है, इस निबंध पर टिप्पणी करते हुए कहा कि "साफ जाहिर है कि उसने (शिलर ने) भावुकतापूर्ण कविता को सरल कविता से पृथक् साबित करने के लिए व्यर्थ ही एड़ी-चोटी का जोर लगा डाला। क्योंकि भावुकतापूर्ण कविता के लिए उसे अनुकूल भूमि नहीं मिली और इससे उसके सामने अकथ उलझनें पैदा हो गई। मानो. . . .भावुकतापूर्ण कविता सरलता की उस भाव-भूमि के बिना पैदा हो सकती हो, जिसमें उसकी जड़ें रहती हैं।"

गेटे

विश्व-कवि गेटे की प्रतिभा में प्राचीन और नवीन, यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद का अद्भुत समन्वय हमें मिलता है। गेटे एक महान कवि ही नहीं, एक महान चिन्तक भी था। उसने यद्यपि काव्य-सिद्धान्तों पर कोई अलग से पुस्तक नहीं लिखी, लेकिन उसने अपने स्फुट निबंधों और वार्ता-

न्थों में महाकाव्य, ट्रैजेडी, सौन्दर्य तथा अन्य साहित्यिक प्रश्नों पर विचार प्रकट किए हैं, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। गेटे ने 'क्लासिक' और 'रोमान्टिक' (स्वच्छन्दतावादी) काव्य के बारे में जो मत प्रकट किया था, उसकी आज भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसने कहा कि "मैं क्लासिक को स्वस्थ और रोमान्टिक को रुग्ण मानता हूं। अधिकांश आधुनिक रचनाएं रोमान्टिक होती हैं, इसलिए नहीं कि वे नवीन हैं, बल्कि इसलिए कि वे दुर्बल, कुत्सित तथा रुग्ण होती हैं। पुरातन कृतियां क्लासिक हैं, प्राचीन होने के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वे प्राणवान, चिरनवीन, आनन्ददायी और स्वस्थ होती हैं। अगर हम इन गुणों के आधार पर क्लासिक और रोमान्टिक का भेद करें तो हमें भ्रान्ति नहीं होगी और उनको समझना हमारे लिए आसान हो जायगा।" तात्पर्य यह कि जिन आधुनिक रचनाओं में ये गुण प्राप्त हों, वे भी क्लासिक हो कही जायेंगी। क्लासिक और रोमान्टिक का भेद यह है कि एक स्वस्थ-मन की सृष्टि है और दूसरी अस्वस्थ मन की। गेटे की दूसरी महत्वपूर्ण स्थापना यह थी कि "व्यक्तित्व कला एवं कविता का सर्वस्व है।" इस सूत्र से गेटे का अभिप्राय यह था कि महान कला का निर्माण प्रखर और मेधावी व्यक्तित्व ही कर सकता है, जिसका बौद्धिक स्तर ऊंचा हो और जिसकी भावनाओं में बड़प्पन और उदात्तता हो। ऐसे व्यक्तित्व की रची कृति को समझने के लिए आलोचक का बौद्धिक स्तर ऊंचा और उसकी भावनाओं में औदार्य होना जरूरी है। अरस्तू के ट्रैजेडी-संबंधी मन्तव्य को समझाते हुए गेटे ने कहा कि त्रास और करुणोत्पादक घटना-क्रम के पश्चात् ट्रैजेडी की समाप्ति इन भावों के सन्तुलन-सामंजस्य में होनी चाहिए। 'विरेचन' से अरस्तू का यही अभिप्राय था। कविता की विषय-वस्तु के बारे में गेटे का विचार था कि सौन्दर्य-शास्त्रियों का यह कहना गलत है कि कुछ काव्यात्मक विषय होते हैं और कुछ अकाव्यात्मक, क्योंकि कवि को अगर उसका समुचित प्रयोग करना आता हो तो कोई भी वास्तविक पदार्थ अकाव्यात्मक नहीं होता। "यह संसार इतना विशाल और समृद्ध है और जीवन इतना वैविध्यपूर्ण है कि कविता के अवसरों का अभाव नहीं

हो सकता। परन्तु वे सब अवसर-प्रेरित रचनाएं होनी चाहिए—अर्थात उनकी रचना की प्रेरणा एवं सामग्री दोनों यथार्थ से उपलब्ध होनी चाहिए। . . . कोई यह नहीं कह सकता कि वास्तविकता में काव्यात्मक रोचकता का अभाव होता है, क्योंकि उसी में तो कवि-कर्म की सिद्धि है। सामान्य विषय के किसी हृदयग्राही पक्ष के उद्घाटन में ही उसकी (कला की) सार्थकता है।" इस प्रकार गेटे ने एक ओर स्वच्छन्दतावादियों को वास्तविकता से विषय चुनने का परामर्श दिया तो दूसरी ओर नव्य-शास्त्रवादियों को नवीन के प्रति अधिक सहानुभूति रखने का आदेश दिया। गेटे के विचार में "काव्य को शिक्षाप्रद होना चाहिए, परन्तु प्रच्छन्न रूप से। वह पाठक का ध्यान संवेद्य मूल्यवान विचार की ओर आकृष्ट-भर करे, परन्तु उससे शिक्षा पाठक स्वयं ही ग्रहण करे, जैसे जीवन से करता है।" इस प्रकार गेटे ने उस प्राचीन विवाद का समाधान प्रस्तुत किया, जिसका उल्लेख हम आरंभ से करते आ रहे हैं। आजकल जीवन के प्रति कवि की अनास्था को एक चरम मूल्य मानने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है। गेटे ने आस्था के प्रश्न पर अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा कि "सहज आस्था जीवन की कवि है। दोनों एक काल्पनिक जगत का निर्माण करते हैं, और वास्तवि मूर्त-जगत के पदार्थों के बीच वे अत्यन्त अद्भुत संबंधों का आभास पाते हैं। सहानुभूति और प्रत्यनुभूति का सर्वत्र शासन रहता है।" तात्पर्य यह है कि कवि में सहज आस्था (वास्तविक जीवन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण का होना एक अनिवार्यता है, क्योंकि यह आस्था ही उसे अस्मभव के निमित्त प्रयास करने, भविष्य से सम्पर्क स्थापित करने और उसे प्रभावित करने की शक्ति प्रदान करती है। गेटे की ये सीधी-सादी, किन्तु सार्वभौम महत्त्व की उद्भावनाएं एक संतुलित महान व्यक्तित्व का परिणाम थीं।

गेटे के साथ हम उन्नीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर चुके हैं। यह पाश्चात्य साहित्य में अपूर्व क्रियाशीलता और महान साहित्य और कला के निर्माण की शताब्दी है। इस शती में ही स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी, इन दोनों साहित्य-प्रवृत्तियों का चरम विकास हुआ। दोनों धाराएं एक-दूसरे

के पार्श्व में और अक्सर एक-दूसरे से गुंफित होकर विकास करती रहीं। इस शती में ही फ्रान्स में बाल्ज़क, ज्यौर्ज सैण्ड, विक्टर ह्यूगो, स्टैन्दाल गॉतियर, ड्यूमा, फ्लाबेयर, ज़ोला, मोपासां, अनातोले फ्रान्स-जैसे महान उपन्यासकार और कहानीकार हुए, सेण्ट ब्यव-जैसा आलोचक, और चार्ल्स बोदलेयर, पॉल वर्लेन, आर्थर रिम्बॉ और स्तीफ़ेन मलार्मे-जैसे प्रतीकवादी कवि हुए। जर्मन-भाषाओं में हीनरिच हाइने-जैसा कवि, इब्सन और हॉटमन-जैसे नाटककार और हीगल, कार्ल मार्क्स और नीत्शे-जैसे दार्शनिक और विचारक हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में ही रूस ने वे महान साहित्यकार और विचारक पैदा किए, जिनकी कृतियों ने रूसी साहित्य को विश्व-साहित्य में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। पुश्किन, लर्मन्तोव, गोगोल, तुर्गेनेव, तॉलस्तॉय, ग्रिबोइदोव, ऑस्त्रोव्स्की, हर्ज़ेन, नेक्रोसोव, शेड्रिन, गौन्चेरोव, दॉस्तॉयव्स्की और चेखव-जैसे महान कवि, कथाकार और नाटककार और बेलिन्स्की और चर्निशेव्स्की-जैसे महान आलोचक उन्नीसवीं शती में ही हुए। इंग्लैण्ड में वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, वायरन, शेले, कीट्स, टेनिसन-जैसे कवि, वाल्टर स्कॉट, चार्ल्स डिकेन्स, विलियम थैकरे, ज्यौर्ज इलियट, ट्रोलोप, मेरिडिथ, सैम्युअल बटलर और टामस हार्डी-जैसे उपन्यासकार और एडगर एलेन पो, मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन, विलियम मौरिस-जैसे आलोचक और साहित्य-चिन्तक उन्नीसवीं शती में ही पैदा हुए। पाश्चात्य साहित्य के इस अपूर्व विकास के सन्दर्भ में हम साहित्यालोचन की उन विचारधाराओं का संक्षेप में परिचय देंगे, जिन्होंने इस शती के साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया।

: ५ :

स्वच्छन्दतावादी आलोचना

फ्रान्स की पूंजीवादी क्रान्ति और रूसो, वोल्तेयर और गेटे की कृतियों ने साहित्य में स्वच्छन्दतावादी धारा को नयी दिशा और शक्ति प्रदान की। हर प्रकार के प्रतिबन्धों, साहित्यिक परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यक्तिवाद, मनुष्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य में आस्था, प्रकृति से प्रेम और किसी अज्ञात, अलौकिक, रहस् शक्ति मे गहरी रुचि, कल्पना की उन्मुक्त उड़ान और भावों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति, अहंवाद, निराशा, पलायन और नये पूंजीवादी समाज-संबंधों के प्रति घोर असन्तोष की भावना—स्वच्छन्दतावादी साहित्य-धारा की ये चारित्रिक विशेषताएं हैं। इनमें युग की ही भावना प्रतिबिम्बित हो रही थी। कांट, फिख्ते और शेलिंग-जैसे भाववादी दार्शनिकों ने वस्तु-जगत से मनुष्य का ध्यान हटाकर चेतन-तत्व पर केन्द्रित कर दिया था। इस प्रकार समाज में होनेवाले आमूल परिवर्तनों और भाववादी दार्शनिक उद्भावनाओं के सम्मिलित प्रभाव से रोमान्टिक धारा का साहित्यिक दृष्टिकोण निर्दिष्ट हुआ था।

वर्ड्सवर्थ

वर्ड्सवर्थ (१७७०-१८५०) ने कविता क्या है, यह प्रश्न न उठा
अपनी कविताओं के संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में यह प्रश्न
कि "कवि शब्द का क्या अर्थ है? कवि कौन होता है? उसका निवे
किसके प्रति होना है? और उससे कैसी भाषा की अपेक्षा करनी चाहिए?
इस तरह वर्ड्सवर्थ पहला कवि और आलोचक है, जिसने कविता क्या
जैसे तात्त्विक प्रश्न की ऊहापोह मे अधिक न पड़कर, कविता कैसे रची जा
है, यानी कविता की रचना-प्रक्रिया क्या होती है, इस प्रश्न का विवेच
किया। आधुनिक पाश्चात्य आलोचना में भी इस प्रश्न को ही सबसे अधि
महत्त्व दिया जाता है। अपने उठाये प्रश्नों के उत्तर मे वर्ड्सवर्थ ने कहा कि

कवि "मानव होता है, वह मानवों से ही अपनी बात कहता है। हां, उसकी सवेदना-शक्ति अधिक जीवन्त होती है, उसमे अधिक उत्साह और सौकुमार्य होता है, मानव-स्वभाव का उसे अधिक गंभीर ज्ञान होता है, उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है " "इस विशिष्ट प्राणी (कवि) से किस तरह की भाषा की अपेक्षा की जानी चाहिए?" इसके उत्तर मे वर्ड्सवर्थ का कहना है कि "यह स्पष्ट है कि जब वह भावो का वर्णन या अनुकरण करता है तो यथार्थ एव वास्तविक पीडानुभूति की तीव्रता तथा कार्य-कलाप की स्वतत्रता की अपेक्षा उसका कर्म किसी हद तक यात्रिक होता है।" तात्पर्य यह कि कवि की भाषा मे वह यथार्थता और जीवन्तता नही हो सकती, जो भावो के वास्तविक दवाव से निकली साधारण मनुष्यो की अभिव्यक्ति मे होती है। इसलिए कवि को चाहिए कि वह "साधारण लोगो की", विशेषकर "सरल ग्रामीण लोगो की" भाषा को कविता की भाषा बनाये। यह मत लौंजाइनस या दाते के मत से भिन्न था, जो साधारण बोलचाल की भाषा के प्रयोग से कविता मे ग्राम्य-दोष या औदात्य की कमी आ जाने का खतरा देखते थे। परिष्कृत और परिमार्जित भाषा की जगह, वर्ड्सवर्थ की दृष्टि मे "कविता स्वत.स्फूर्त अभिव्यक्ति है।" दरअसल वर्ड्सवर्थ का विरोध कविता की उस रूढ और नियम-ग्रस्त पडिताऊ भाषा के प्रति था, जो नव्य-शास्त्रवादियो के प्रभाव मे अत्यन्त कृत्रिम बन चुकी थी। अन्यथा 'स्वत स्फूर्त अभिव्यक्ति' से वर्ड्सवर्थ का अभिप्राय यह नही था कि कवि बिना सोचे-विचारे, जो मन मे आये, असयत और उच्छृखल ढग से लिखता जाये और दावा करे कि वह कविता है। उसका कहना था कि मूल्यवान कविताओं की रचना तभी हो पाती है, जब असामान्य सवेदना का कवि अपने विषय पर दीर्घ काल तक गहराई से सोचे। रचना-प्रक्रिया के संबंध मे उसका निर्देश है कि अनुभूत भावो को शान्त, एकान्त वातावरण मे पुनः स्मरण करके कविता की रचना करनी चाहिए, जल्दबाजी मे नही। लेकिन कवि जो भी लिखे, उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि वह जन-साधारण के लिए लिख रहा है, अपने समानधर्मा, अनुभूति-प्रवण मुट्ठी-

हम लोगों के लिए नहीं। अरस्तू ने यह स्वीकार किया था कि हर प्राणी की कविता किसी न किसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करती है, लेकिन वर्ड्सवर्थ ने आनन्द को कविता का लक्ष्य ही माना. [illegible] भी [illegible] अरस्तू ने सामान्य और विशेष का भेद करते हुए कहा था कि कविता सामान्य सत्य को अभिव्यक्ति देती है। वर्ड्सवर्थ ने इस धारणा से अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा कि अरस्तू का यह कहना सुसंगत है कि कविता समस्त साहित्य में सबसे अधिक दार्शनिक वस्तु होती है। "उसका विषय होता है सत्य वैयक्तिक या स्थानीय सत्य नहीं बल्कि सामान्य और प्रभावी सत्य और वह किसी बहिर्साक्ष्य पर आधारित नहीं होता, बल्कि भावोद्रेक करके वह जीता-जागता ही हृदय में प्रवेश करता है, ऐसा सत्य जो अपना साक्ष्य स्वयं ही है . . . । कविता मानव और प्रकृति का प्रतिबिम्ब होती है। . . . कवि पर केवल एक प्रतिबंध होता है, वह यह कि उसे उस प्राणी को तत्काल आनन्द प्रदान करना होता है, जिससे वकील, चिकित्सक, नाविक, ज्योतिर्वेत्ता या दार्शनिक के रूप में प्राप्त जानकारी की अपेक्षा नहीं की जाती, बल्कि एक मनुष्य के रूप में प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा की जाती है। इस एक प्रतिबंध के अतिरिक्त कवि और वस्तु-सृष्टि के बीच और कोई बाधा नहीं होती. . . .।" एक स्थान पर वर्ड्सवर्थ ने लिखा कि कवि "मानव-प्रकृति की रक्षा करनेवाली शिला होता है, उसका समर्थक और संरक्षक जो अपने साथ हर जगह मानव-संबंधों और प्रेम की चेतना लिये फिरता है।" "कवि भाव-शक्ति और ज्ञान से मानव-समाज के विशाल साम्राज्य को एक-सूत्र में बांधता है।" इन उद्भावनाओं के द्वारा वर्ड्सवर्थ ने कविता के साध्य और प्रयोजन के रूप में 'आनन्द' की प्रतिष्ठा की, ऐसे आनन्द की जो मनुष्य में गिरावट नहीं पैदा करता, बल्कि ज्ञान-प्राप्ति का साधन है और मानव-मात्र को एक सूत्र में बांधता है।

[illegible] ने कवि और कवि-कर्म की महत्ता का विवेचन किया

और एक उच्चतर कोटि के आनन्द को साहित्य का साध्य बताया; लेकिन काव्य (या कला) मे विषय-वस्तु और रूप-तत्त्व का क्या रिश्ता होता है, इस प्राचीन समस्या का वह कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। इस कमी को दूर करने की गरज से वर्ड्सवर्थ के मित्र और सहयोगी कवि कोलरिज (१७७२–१८२४ ई०) ने कविता की चारित्रिक विशेषताओं और उसके मूल्य का अपने तात्त्विक विवेचन द्वारा निरूपण करने का प्रयत्न किया। सिडनी ने यह बताने की कोशिश की थी कि कविता क्या कर सकती है, ड्राइडन ने यह बताने की चेष्टा की कि कविता को क्या करना चाहिए और वर्ड्सवर्थ ने यह बताया कि कवि के मन में किस प्रकार की प्रक्रिया होती है। लेकिन कोलरिज ने अरस्तू की विवेचन-प्रणाली का प्रयोग करके, यद्यपि दोनों का दृष्टिकोण समान नहीं है, यह जानने की कोशिश की कि कविता क्या होती है और अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों से वह किस तरह भिन्न है। इस प्रकार उसने पुन सौन्दर्य-तत्त्व के विवेचन को दार्शनिक चिन्तन का विषय बना दिया।

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में कोलरिज ने कविता के रूप-तत्त्व (फार्म) की जाच करते हुए लिखा कि "कविता मे भी वे ही तत्त्व होते हैं जो एक गद्य रचना मे।" दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसलिए कविता और गद्य-रचना के भेद का आधार माध्यम की भिन्नता नहीं है। इस भेद का कारण दोनों में भिन्न प्रकार की शब्द-योजना ही हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप दोनों के लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। कविता मे शब्दों का प्रयोग भिन्न ढग से होता है, क्योंकि कविता का उद्देश्य गद्य-रचना से भिन्न होता है। छन्द और तुक कविता के रूप-विन्यास पर केवल ऊपर से आरोपित, बाह्य और गौण तत्त्व हैं—किसी गद्य-रचना को भी छन्द और तुक मे ढाला जा सकता है और इससे उसको स्मरण रखने में सुविधा हो सकती है और कुछ लोग उसे कविता भी पुकार सकते हैं। इसलिए इस बाह्य आधार पर कविता का गद्य-रचना से भेद करना कठिन है। दार्शनिक इसी लिए यह प्रश्न पूछेगा कि भाषा का प्रयोग करने के ये जो दो ढग

है, उनका मूल कारण क्या है ? दोनों अपने अलग-अलग ढंगों से क्या प्राप्त करना चाहते हैं, और उनके भिन्न उद्देश्य क्या उनकी चारित्रिक विशेषताओं का निरूपण करते हैं ? यह तात्कालिक उद्देश्य सत्य का प्रेषण भी हो सकता है (जैसे गद्य का) या आनन्दानुभूति का प्रेषण भी (जैसे कविता का)। किन्तु सत्य का प्रेषण भी अन्ततः सुखदायी हो सकता है, और विज्ञान या इतिहास की कृतियों से जिज्ञासु पाठक को अक्सर ऐसा आनन्द प्राप्त भी होता है। इसलिए कोलरिज ने तात्कालिक और अंतिम लक्ष्य में भेद करने पर ज़ोर दिया। कविता का तात्कालिक उद्देश्य सुख या आनन्द प्रदान करना है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाये तो कोलरिज को यह मानने में आपत्ति नहीं थी कि उसका अंतिम लक्ष्य 'सत्य' की प्रतीति कराना हो सकता है। उसका कहना था कि एक आदर्श समाज में कोई ऐसी चीज़, जो सत्य नहीं है, आनन्ददायक भी नहीं हो सकेगी, लेकिन वर्तमान समाज में तो कविता का तात्कालिक उद्देश्य, नैतिक अथवा बौद्धिक सत्य से किसी प्रकार सम्बद्ध हुए बिना, केवल आनन्द प्रदान करना ही हो सकता है। इस प्रकार कविता का तात्कालिक उद्देश्य आनन्द प्रदान करना और वैज्ञानिक गद्य का सत्य की प्रतीति कराना बताकर कोलरिज ने यह निरूपित किया कि कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य के जो दूसरे प्रकार हैं और जिनका तात्कालिक उद्देश्य भी आनन्द प्रदान करना है, उनका भेद उनके विशिष्ट रूप-प्रकार (फार्म) से निर्धारित होता है। हर रूप-प्रकार (फार्म) में विभिन्न अवयवों की संघटना अंगांगि रूप से परस्पर-सम्बद्ध और सामंजस्यपूर्ण होनी चाहिए; यह आंगिक-इकाई ही उस रूप का प्रयोजन और उसका औचित्य है। कोलरिज ने 'काव्य' और 'कविता' में भी भेद किया। काव्य के अन्तर्गत उसके अनुसार, चित्रकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक का रचनात्मक और बौद्धिक कार्य, यानी 'मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को सक्रिय' बनानेवाले सभी कार्य सम्मिलित हैं। कविता और काव्य में यह भेद करने के बाद कोलरिज ने वर्ड्सवर्थ की तरह कवि-कर्म का भी विवेचन किया। उसके अनुसार कवि अपनी कल्पना-द्वारा सृष्टि करता है। कल्पना एक समन्वय-

कारी शक्ति है और किसी विषय के विभिन्न पक्षों को एक संश्लिष्ट अन्विति के रूप में ढालती है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में काव्य का निर्माण होता है। कविता भी काव्य का ही अंग है, इसलिए कविता भी कल्पना-सृष्टि है। कोलरिज ने आगे चलकर इस कल्पना-शक्ति का विस्तार से विवेचन करते हुए बताया कि कवि किस प्रकार कल्पना के माध्यम से रूप-सृष्टि करता है, जिसमें भाव-विचार-वस्तु एक संश्लिष्ट इकाई में ढल जाते हैं। इस प्रकार कोलरिज ने कविता के विशिष्ट रूप-प्रकार और कल्पना पर ज़ोर दिया और आनन्द को कविता का तात्कालिक उद्देश्य बताकर, उसकी आनन्द प्रदान करने की क्षमता को ही मूल्यांकन का आधार बनाया।

शैले

अंग्रेज़ी के रोमान्टिक कवियों में सबसे अधिक क्रान्तिकारी चेतना का कवि शैले (१७९२–१८२२) था। वह कोलरिज की तरह दार्शनिक नहीं था, लेकिन सामाजिक अन्याय के प्रति उसका पवित्र और सत्यनिष्ठ मन विद्रोही भावना से आन्दोलित था। टामस लव पीकाक की पुस्तक 'कविता के चार युग' के उत्तर में उसने अपना प्रसिद्ध निबंध 'कविता की वकालत' (डिफेन्स ऑफ़ पोयट्री) लिखा। पीकाक का कहना था कि कविता का युग बीत गया, और ज्ञान, तर्क और प्रबुद्ध चेतना के इस युग में अब कविता केवल अबौद्धिकता और अन्ध-विश्वास को ही अपील करती है। पीकाक के तर्क की प्रतिध्वनि अक्सर आजकल भी सुनायी देती है। शैले ने इसके उत्तर में प्लैटो, सिडनी, वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के विचारों के आधार पर कवि और कविता के गौरव का अत्यन्त भावुक और सशक्त ढंग से पुनराख्यान किया। प्लैटो से सहमत होते हुए भी कि कवि में पागल-पन होता है, उसने प्लैटो के इस विचार का खंडन किया कि कविता अनुकृति की अनुकृति होती है। शैले का कहना है कि अपनी कल्पना-शक्ति से कवि प्लैटो के मूल-विचारों, यानी वास्तविकता के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है। वह यद्यपि वर्ड्सवर्थ और कोलरिज से इस बात में सहमत

था कि कविता का प्रधान उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है, लेकिन निबन्ध और गद्य में भी वह कविता का संचार मानता था। समाज में कवि का स्थान कितना ऊंचा है, इस बारे में उसकी प्रसिद्ध उक्ति है कि 'कवि संसार के बिना माने हुए नियामक हैं।" और कविता के बारे में उसका प्रसिद्ध कथन है कि "कविता सबसे अधिक सुखी और श्रेष्ठतम मनों के श्रेष्ठतम और सबसे सुखी क्षणों का लेखा-जोखा है।" कवि, कविता और उसके कार्य और प्रयोजन के संबंध में ऐसी असंख्य उदात्त और शालीन अभिव्यक्तियां शैले के निबंध में मिलती हैं, जिनको भावुक आलोचक लगातार उद्धृत करते आये हैं।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना अधिकतर पुनीत उद्‌गारों और उक्तियों का असम्बद्ध पुंज है। इस बीच उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक चिन्तन का अभूतपूर्व विकास हो रहा था और धार्मिक विश्वासों के प्रति लोगों की अंध-निष्ठा कम होती जा रही थी। इसके अलावा कविता में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति चाहे कितनी भी प्रबल रही हो, उपन्यास, कहानी और नाटक में यथार्थवादी प्रवृत्ति ही प्रमुख थी। और चूंकि उन्नीसवीं शती के आरंभ से ही विभिन्न देशों में महान प्रतिभा के अनेक यथार्थवादी लेखकों की रचनाएं सामने आने लगी थीं, इसलिए आलोचना में उनकी उपेक्षा संभव नहीं थी। परिणामतः पाश्चात्य आलोचना में यथार्थवादी विचारधारा का विकास हुआ।

: ६ :

यथार्थवादी आलोचना

उन्नीसवीं शताब्दी में यथार्थवादी आलोचना-सिद्धान्तों के विकास का प्रमुख श्रेय महान रूसी विचारक बेलिन्स्की और चर्निशेव्स्की को है। इसके

वाद कार्ल मार्क्स, मैथ्यू आर्नल्ड और तॉलस्तॉय ने यथार्थ-चिन्तन की धारा का विकास किया। इस संबंध में हमने फ्रांस के प्रसिद्ध आलोचक सैन्त ब्यूव (१८०४–१८६९ ई०) का नामोल्लेख नहीं किया, यद्यपि वह भी युग की वैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित था। लेकिन उसकी आलोचना-प्रणाली एक जीवशास्त्री की प्रणाली थी—कृति का मूल्यांकन करने के लिए कृतिकार की जीवनी का अध्ययन करने पर आधारित—जिस तरह वनस्पतिशास्त्री फल का स्वाद जानने से पहले उस फल के वृक्ष की जाति और जीवनी को जानना पसन्द करता है। इसलिए उसकी आलोचना-पद्धति केवल प्रत्यक्षतः ही वैज्ञानिक लगती है, उसकी उद्भावनाओं में अधिक तत्त्व नहीं है। 'क्लासिक' किसे कहते हैं, इस संबंध में उसका निबंध अवश्य महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें उसने फ्रेंच अकादमी द्वारा प्रचारित इस संकीर्ण धारणा का खंडन किया है कि केवल प्राचीन और बहु-प्रशंसित या आदर्श-रूप स्वीकृत रचनाएं ही क्लासिक कही जा सकती हैं। उसने कहा कि एक क्लासिक रचना का स्रष्टा वह होता है "जिसने मानव-मन को समृद्ध किया हो, उसके ज्ञान-भंडार की अभिवृद्धि की हो, और उसे एक कदम आगे बढ़ाया हो. . . .जिसने नैतिक सत्य का अन्वेषण किया हो, या उस हृदय में, जहां सब-कुछ अभिज्ञात और अनावृत प्रतीत होता था, किसी शाश्वत भावना का दिग्दर्शन कराया हो. . . .। यह अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हुई हो, पर वह अपने-आपमें उदार और महान, परिष्कृत और युक्तियुक्त, स्वस्थ और सुन्दर होनी चाहिए; जिसने अपनी विशिष्ट शैली में सबको संबोधित किया हो—एक ऐसी शैली में, जो सम्पूर्ण विश्व की शैली प्रतीत होती हो .... जो किसी एक युग की भी शैली हो, और युग-युग की भी।" तात्पर्य यह कि सैन्त ब्यूव ने हर युग और काल की महान कृतियों को 'क्लासिक' पद का अधिकारी माना और क्लासिक कृतिकार और उसकी कृति के गुणों की व्याख्या करके उसने साहित्य के मूल्यांकन की एक सामान्य कसौटी भी निर्धारित की, जिसके द्वारा सामयिक साहित्य की महान कृतियों को साधारण रचनाओं से अलग करके उनके क्लासिक रूप को पहचाना

जा सके। लेकिन मेल्स कुछ भी ये स्थापनाएं जितनी व्यावहारिक हैं उत्त
तात्त्विक नहीं।

बेलिन्स्की

साहित्य रूप से पाश्चात्य जगत में यथार्थवादी आलोचना-दृष्टि
का जन्मदाता रूस का महान प्रगतिशील विचारक बेलिन्स्की (१८११-
१८४८ ई०) है। आरंभ में बेलिन्स्की हीगल के भाववादी दर्शन का अनु-
यायी था, लेकिन सन् १८३९ ई० में गुलाम रूसी किसानों के देश-व्यापी
विद्रोह ने उसमें हीगल के उस प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के प्रति विरक्ति
पैदा कर दी, जिसका वह सामाजिक विषमताओं का औचित्य सिद्ध करने
के लिए प्रयोग करता था। इसके बाद ब्रूनो बायर और फ़ायरबाख़-जैसे
भौतिकवादी दार्शनिकों के प्रभाव में बेलिन्स्की के विश्व-बोध का विकास
हुआ। कविता की परिभाषा देते हुए बेलिन्स्की ने कहा है कि "कविता
वास्तविक और सत्य विचारों की कला है न कि कृत्रिम संवेदनों की।"
आलोचना के बारे में बेलिन्स्की का सारगर्भित कथन है कि "आलोचना
गतिशील सौन्दर्य-शास्त्र है।"

'वास्तविकता', 'कलात्मक पूर्णता' और 'प्रतिमा'—बेलिन्स्की के
कला-संबंधी दृष्टिकोण के ये तीन मूलभूत विचार-सूत्र हैं। "वास्तविकता—
आधुनिक जगत का यह चरम सूत्र और नारा है। तथ्यों में, अर्थों में, विश्वासों
में, मानसिक निष्कर्षों में, वास्तविकता—हर चीज में और हर जगह वास्त-
विकता ही हमारे युग का पहला और अन्तिम स्वर है।" बेलिन्स्की का
कहना है कि वास्तविकता ही कला की कसौटी है—किसी कलाकृति का
महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें किस हद तक वास्तविकता
का सही और सुन्दर प्रतिबिम्बन हुआ है। अगर ऐसा न हो तो ताश
और जादूगरी के खेलों से कला का भेद कैसे किया जा सकता है, क्योंकि
मनोरंजन तो उनसे भी होता है। जीवन के सत्य से ही कलाकृतियों को
चारुत्व, सचाई और उच्च कोटि की सारवत्ता प्राप्त होती है। अन्यत्र

बेलिन्स्की ने विस्तार से समझाते हुए लिखा कि "हर काव्य-कृति एक ऐसे *प्रबल विचार का प्रतिफलन होती है जो कवि के मन पर हावी हो गया है।*" तात्पर्य यह कि कवि और उसके द्वारा अभिव्यक्त वस्तु का संबंध अत्यन्त घनिष्ठ है। अकेला कवि या कलाकार ही वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करने का कारण-साधन नहीं है, बल्कि वह वस्तु भी जो उसकी कृति में प्रतिबिम्बित होती है, इस अभिव्यक्ति का एक निमित्त है, क्योंकि वास्तविकता कवि के मन पर आच्छादित हो जाती है। वास्तविकता का संवेदन वह सीधे अपनी आत्मा में महसूस करता है। इसी लिए महान कला, उसकी दृष्टि में जीवन, वस्तु-जगत और इतिहास की भाषा बोलती है। एंगिल्स ने बाल्ज़क के संबंध में 'यथार्थवाद की विजय' की बात कही थी, दरअसल उस सिद्धान्त का सबसे पहले बेलिन्स्की ने ही प्रतिपादन किया था। वह सिद्धान्त यह है कि लेखक की दार्शनिक या सामाजिक मान्यताओं से आवश्यक नहीं कि उसकी कृति में प्रतिबिम्बित सत्य हमेशा मेल ही खाये। गोगोल का दृष्टिकोण घोर निराशावादी था, लेकिन एक महान वस्तुदर्शी ईमानदार कलाकार होने के कारण उसकी रचनाओं में रूसी जीवन की वास्तविकता अपने समग्र रूप में प्रतिबिम्बित हुई है, जिससे उसकी कृतियों का क्रान्तिकारी महत्व है। प्रश्न उठता है कि कला का यह कौन-सा गुण है जो लेखक की विचारधारा और दृष्टिकोण से भी अधिक बलवान होता है? बेलिन्स्की की दृष्टि में यह गुण 'कलात्मकता' है। यह कोई रहस्यमय, विशिष्ट गुण नहीं है, बल्कि 'मूर्तिकरण' का ही दूसरा नाम है। 'मूर्त' वस्तु सर्वांग-सम्पूर्ण और प्राणवान होती है, जब कि 'विचार' अमूर्त, एकांगी और शुष्क होता है। अतः कलात्मकता का मानदंड है, वास्तविकता का मूर्त, अन्तरंग और वैविध्यपूर्ण प्रतिबिम्बन। इसलिए अगर कलाकार असत्य विचार को अपनी रचना का आधार बनाता है और उसमें वास्तविकता का मूर्त, अन्तरंग और वैविध्यपूर्ण रूपायन करने की क्षमता है तो वास्तविकता का सत्य कलाकार के झूठे विचार को स्वयं ही निराकृत कर देगा, क्योंकि असत्य कलात्मक नहीं हो सकता। और

अगर कलाकार का मूल विचार तो सत्य है, लेकिन उसकी कृति में वास्तविकता का मूर्त स्थापन नहीं हुआ है, तो उसकी कृति प्राणवान नहीं होगी, और उसमें सत्य का अभाव होगा, क्योंकि सत्य हमेशा मूर्त ही होता है, अमूर्त नहीं होता। इस प्रकार बेलिन्स्की के विचार में 'कलात्मकता' का तात्पर्य विषय-वस्तु (वास्तविकता) को मूर्त और समग्र रूप में प्रतिबिम्बित करना-मात्र है। जहा कवि या कलाकार सत्य-विचार का मूर्त चित्रण करने में असफल होता है या कृत्रिम और यांत्रिक उपायों से उसका चित्रण करना चाहता है, जिसमें वास्तविकता का असत्य रूप प्रकट होता है, वहा कला की सृष्टि नहीं होती। इस तरह कला में न तो असत्य को सुन्दर बनाया जा सकता है न सत्य को असत्य द्वारा सिद्ध ही किया जा सकता है। कविता क्या है और कवित्व किसे कहते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में बेलिन्स्की ने कहा कि साधारण लेखकों का विचार है कि कविता कल्पना की ईजादों में निहित रहती है; लेकिन सोये हुए आदमी के स्वप्न और पागल आदमी का प्रलाप भी तो कल्पना की ही ईजाद होते हैं, किन्तु वे कविता नहीं होते। "कविता संभावना के रूप में वास्तविकता का रचनात्मक रूपांकन होती है। इसलिए जिस वस्तु का वास्तविकता में अस्तित्व नहीं हो सकता, वह कविता में भी असत्य होगी, दूसरे शब्दों में जिसका वास्तविकता में अस्तित्व नहीं हो सकता, उस वस्तु में काव्यत्व भी नहीं हो सकता।" 'कलात्मकता' का स्रोत जीवन है। वह रचना में बाह्य उपायों द्वारा पैदा की हुई चीज नहीं है। विज्ञान और कला का भेद स्पष्ट करते हुए बेलिन्स्की ने कहा "कि. . .लोगों को यह तो दिखायी देता है कि कला और विज्ञान एक ही चीज नहीं हैं, लेकिन वे यह नहीं देखते कि यह भेद उनकी विषय-वस्तु के कारण कतई नहीं है, बल्कि किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की विभिन्न प्रणालियों तक ही सीमित है। दार्शनिक तर्क और अनुमान की [illegible] बोलता है और कवि बिम्बों और चित्रों की भाषा बोलता है, [illegible] कहते एक ही बात हैं।" तात्पर्य यह कि दार्शनिक और वैज्ञा- [illegible] आकड़ों से किसी वस्तु के बारे में अपने निष्कर्षों को 'सिद्ध'

करता है, जबकि कवि (या कलाकार) जीवन के मूर्त और प्राणवान रूपांतर द्वारा उसी बात को एक चित्र के रूप मे 'प्रदर्शित' कर देता है, जिससे पाठक या दर्शक की कल्पना उद्दीप्त और उद्बुद्ध होकर उस वस्तु का रागात्मक अनुभव करती है। विज्ञान 'सिद्ध' करता है, कला 'प्रदर्शित' करती है, और दोनो ही हमारी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करते है और हमे परितोष प्रदान करते है। लेकिन जहा विज्ञान के तर्क को कुछ लोग ही समझ सकते है, वहा कविता या कला को चित्रमयी, मूर्त भाषा को सभी समझ सकते हैं। मानव-चेतना के विकास मे दोनो का समान योग रहता है, इसलिए मनुष्य को विज्ञान और कला दोनो की परम आवश्यकता है। कला न तो विज्ञान का स्थान ले सकती है और न विज्ञान कला का ही। बेलिन्स्की के अनुसार तीसरा तत्त्व है 'प्रतिभा'। प्रतिभा के बिना साहित्य की किसी प्रवृत्ति या विचारधारा का कोई मूल्य नही होता। अगर 'प्रतिभा' हो तो लेखक की सामाजिक समस्याओ के प्रति जागरूकता उसकी कला के मार्ग मे अवरोध न बनकर उसकी कला को प्रौढता और सार्वजनीनता प्रदान कर सकती है। 'प्रतिभा' के बिना शुद्ध-कलावादी भी कला का निर्माण नही कर सकते। 'प्रतिभा' (टैलेन्ट) क्या है? बेलिन्स्की के अनुसार 'बिम्बो को भाषा मे सोचने की क्षमता' को ही 'प्रतिभा' कहते हैं। साहित्य की विचारधारा या प्रवृत्ति की चर्चा अक्सर की जाती है। बेलिन्स्की का कहना है कि पहले तो 'प्रतिभा' के बिना किसी भी साहित्यिक विचारधारा का कोई मूल्य नही होता, दूसरे, किसी विचारधारा का अस्तित्व लेखक या कलाकार के मस्तिष्क मे नही बल्कि हृदय मे होना चाहिए, उसके रक्त-मास मे, यानी भावना और सहजवृत्ति के स्तर पर और उसके बाद ही एक चेतन विचार के रूप मे, ताकि वह लेखक के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो। जो लेखक पुस्तक मे पढकर या किसी विचारधारा का प्रचलन देखकर उसके अनुयायी बन जाते हैं, वे कला की सृष्टि नही कर सकते, केवल अलकृत और अतिशयोक्तिपूर्ण भाषण-कला के नमूने तैयार कर सकते हैं। बेलिन्स्की का कहना है कि 'शुद्ध' कला, या जिसे दार्शनिक

'निरपेक्ष' कला के नाम से पुकारते हैं, का कभी अस्तित्व ही नहीं र
कला सामाजिक-जीवन से तटस्थ या विमुख कभी नहीं रही, न रह सव
है और न ऐसी कला में किसी को रुचि हो सकती है। "कवि सबसे प
मनुष्य होता है, फिर अपने देश का नागरिक और फिर अपने युग का सपूत.
यही कारण है कि शुद्ध सौन्दर्यवादी आलोचना की साख अब नहीं र
और ऐसी आलोचना एक असंभव क्रिया बनती जा रही है, जो केवल क
और उसकी कृति की ही परख करे और जिस देश और काल में उस
लिखा, जिन परिस्थितियों ने उसको काव्य-क्षेत्र में उतरने के लिए प्रेरि
किया और उसकी काव्य-गत कर्मशीलता को प्रभावित किया, उनकी ओ
तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहती।

चर्निशेव्स्की

बेलिन्स्की की साहित्य और कला-सम्बन्धी इन महत्वपूर्ण उद्भावनाओं
का रूस के दूसरे महान विचारक चर्निशेव्स्की ने आगे विकास किया
चर्निशेव्स्की ने अपनी पुस्तक 'कला का वास्तविकता से सौन्दर्यात्मक सम्ब
(Aesthetic Relation of Art to Reality, १८५३ ई०) में हीगल
और उसके अनुयायी विश्चेर के भाववादी सौन्दर्य-सिद्धान्तों का जोरदा
खंडन करते हुए 'यथार्थवाद' के सौन्दर्य-सिद्धान्तों का पहली बार विधिव
रूप में निरूपण किया। इन दार्शनिकों की मान्यता यह थी कि मनुष्य केवल
उस चीज में ही सौन्दर्य देखता है, जिसमें किसी विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति
होती है। किन्तु चूंकि एक विचार की पूर्णाभिव्यक्ति किसी एक ही वस्तु
में होना संभव नहीं है, इसलिए कला में आदिकाल से लोक-भावना में
कुछ भ्रमों और कल्पना का तत्व भी शामिल रहा है। विज्ञान की प्रगति
के साथ पुराने भ्रम टूट रहे हैं इसलिए कला का ह्रास हो रहा है। चर्नि-
शेव्स्की ने इस मान्यता के विरोध में कहा कि वास्तविकता से बाहर किसी
आदर्श भाव-जगत में सौन्दर्य की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि सौन्दर्य की
अवस्थिति वास्तविकता में ही है। मनुष्य की सबसे शाश्वत और सार्व-

भौम भावना है, जीवन-प्रेम। हर मनुष्य जीवन को सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु मानता है। इसलिए सौन्दर्य की ये परिभाषाएं दी जा सकती हैं— कि "जीवन ही सौन्दर्य है", कि "वे सभी वस्तुएं सुन्दर होती हैं जिनमें हम जीवन को उस रूप में देखते हैं, जो हमारे विचार में, उसका रूप होना चाहिए," कि "वह वस्तु सुन्दर होती है जो जीवन की अभिव्यक्ति देती है या हमें उसका स्मरण दिलाती है।" हमारे भीतर सौन्दर्य की भावना इन विभिन्न रूपों में ही जाग्रत होती है। इस आधार पर चर्निशेव्स्की ने जीवन और कला का संबंध बताते हुए यह स्थापना की कि कला का मुख्य प्रयोजन "उन सभी वस्तुओं की पुनःसृष्टि करना है, जिनमें मनुष्य अपने वास्तविक जीवन में दिलचस्पी लेता है।" चर्निशेव्स्की ने अरस्तू के शब्द 'अनुकरण' की जगह पर 'पुन सृष्टि' का प्रयोग किया है। कला में जीवन-वास्तव की 'पुन:सृष्टि' की जाती है, इसका तात्पर्य यह है कि उसको शब्द, रेखा, रंग, स्वर या अभिनय द्वारा मूर्त रूप देते समय, कवि या कलाकार *चेतन अथवा अचेतन रूप से उसके प्रति अपने निर्णय और अपनी भावना को भी अभिव्यक्त देता है। इस तरह "कला भी मनुष्य का एक नैतिक* कर्म-व्यापार है।" जीवन द्वारा प्रस्तुत की गयी केन्द्रीय समस्याओं की व्यापक और सत्यपरक अभिव्यंजना के अनुपात में ही साहित्य या कला की किसी कृति का मूल्य होता है। इस कला-सिद्धान्त के विरुद्ध रूपवादियों की प्रतिक्रिया का अनुमान करके चर्निशेव्स्की ने लिखा कि कला केवल उन वस्तुओं की ही रूप-सृष्टि नहीं करती जिनमें प्रकृत सौन्दर्य है। "किसी सुन्दर मुख का चित्र बनाना" और "किसी मुख का सुन्दर चित्र बनाना" दो भिन्न बातें हैं। जब हम कहते हैं कि कलाकार उन सभी वस्तुओं की पुन सृष्टि करता है, जिनमें मनुष्य गहरी दिलचस्पी लेते हैं, तो ऐसी वस्तुओं में कुरूप वस्तुएं भी आती हैं, वे शक्तियां भी जो जीवन को कुण्ठित और उत्पीड़ित करती हैं और वे भी जो जीवन का समर्थन करती हैं। इस प्रकार ठोस, गतिशील और द्वन्द्वात्मक जीवन की वास्तविकता ही कला की वस्तु होती है। जब हम कहते हैं कि "यह सुन्दरतापूर्वक चित्रित हुआ है," तब

हमारा अभिप्राय यह होता है कि कलाकार इच्छित वस्तु को कलात्म अभिव्यक्ति देने में सफल हुआ है—यानी हमारा संकेत कला-वस्तु की ओ न होकर उसके रूप (फार्म) की ओर होता है। चर्निशेव्स्की की मान्यत है कि इस अर्थ में 'रूप की पूर्णता', जिसे प्राचीन दार्शनिक 'विचार-तत्त्व और विम्ब की अन्विति' कहते हैं, कला का अनिवार्य तत्त्व है। लेकिन चर्निशेव्स्की के अनुसार सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप की पूर्णता' केवल 'ललित कलाओं' की ही चारित्रिक विशेषता नहीं है। 'विचार-तत्त्व और विम्ब की अन्विति' या 'किसी विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति' के रूप में सौन्दर्य हर कला और कौशल का साध्य रहा है, वस्तुतः मनुष्य की समस्त व्यावहारिक चेष्टाओं का उद्देश्य रहा है। कार्ल मार्क्स ने भी सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए ऐसी ही महत्त्वपूर्ण स्थापना की है। उसने कहा कि "मनुष्य सौन्दर्य-नियमों के अनुसार ही सब वस्तुओं का निर्माण करता है।" तात्पर्य यह कि सौन्दर्य कला के रूप-तत्त्व की कोई ऐसी विशिष्टता नहीं है, जो मनुष्य द्वारा निर्मित अन्य वस्तुओं में उपलब्ध न हो या जिसका कला-वस्तु (अर्थात जीवन) से कोई संबंध न हो और इसलिए वस्तु से अलग करके केवल रूप-चिन्तन द्वारा ही जिसकी प्रतीति संभव हो, जैसा कि रूपवादी विचारकों का आज भी दावा है। 'मनुष्य सौन्दर्य-नियमों के अनुसार निर्माण करता है', इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य मनुष्य के सभी क्रिया-कलापों का सामान्य लक्ष्य है, यद्यपि उनकी प्रणालियां भिन्न हैं। कला की विशिष्ट प्रणाली यह है कि उसमें विम्बों द्वारा वास्तविकता की पुनःसृष्टि की जाती है। चर्निशेव्स्की के अनुसार कला में हम किसी विशेष, प्राणवान वस्तु को ही सुन्दर कहते हैं, अमूर्त विचार को नहीं। इस प्रकार कला द्वारा निर्मित विम्ब प्रकृति में मिलनेवाली सुन्दर वस्तुओं के समान होते हैं। गंभीर और मूर्त प्रतिविम्बन द्वारा ही 'विशेष' को 'सामान्य' या सार्वजनीन सारवत्ता प्राप्त होती है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य-नियम है, क्योंकि भाववादी दर्शनों की यह भ्रान्त मान्यता रही है कि सामान्य या सार्वजनीन अनिवार्यतः विशेष की अपेक्षा अधिक मौलिक और सार-

वान होता है। चर्निशेव्स्की का कहना है कि सामान्य अधिक महत्वपूर्ण न होकर, विशेष का खोखला, अमूर्त प्रतिबिम्ब-मात्र होता है। इसलिए कला में 'विशेष' की ही महत्ता है। इस विचार-सूत्र का स्पष्टीकरण जरूरी है। जब हम यह कहते हैं कि कला उन सब वस्तुओं की पुन सृष्टि करती है, जिनको लोग महत्वपूर्ण समझते हैं, तो इसका मतलब सिर्फ यह है कि जो सामान्यत लोगों को महत्वपूर्ण लगती हैं, केवल कलाकार को ही नहीं। और जब हम कहते हैं कि कलाकार का उद्देश्य कलात्मक या सुन्दर अभिव्यक्ति है तो सुन्दर से मतलब यह है कि 'विशेष को ऐसी मूर्त और कलात्मक अभिव्यक्ति दी जाय कि उसे सामान्य महत्ता प्राप्त हो जाय।' कला मे विशेष सामान्य बनता है और सामान्य विशेष के माध्यम से ही अपने को उद्घाटित करता है। विशेष और सामान्य की यह द्वन्द्वात्मक अन्विति विचार-वस्तु और रूप की अन्विति मे अभिव्यक्ति पाती है, जिसके कारण कला सारवान अनुभूतियों और अनुभवो का अक्षय स्रोत होती है। इस प्रकार चर्निशेव्स्की ने 'यथार्थवाद' का संबंध कला की विचार-वस्तु से जोडा, न कि अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली या शिल्प से। यथार्थ को कलाकार कैसे अभिव्यक्त करे कि 'विशेष' को सार्वजनीन सारवत्ता प्राप्त हो जाय, यह प्रत्येक कलाकार की व्यक्तिगत समस्या है। वह अपनी इच्छा और क्षमता (प्रतिभा) के अनुसार उसको अधिक-से-अधिक मार्मिक अभिव्यक्ति देने के लिए स्वतन्त्र होता है। इसी लिए शैली के अनन्त भेद हैं, लेकिन इनके बावजूद सच्चा कवि या कलाकार वास्तविकता (सामाजिक जीवन का सत्य) को अभिव्यक्ति देने के लिए विवश होता है, क्योंकि कला-निर्माण का और कोई मार्ग नहीं है।

बेलिन्स्की और चर्निशेव्स्की की इन युगान्तरकारी तात्त्विक स्थापनाओं से उन्नीसवीं शताब्दी में रूस से बाहर के पाश्चात्य आलोचक परिचित नही हो सके थे, यद्यपि रूस के सभी महान साहित्यकार उनसे प्रभावित हुए—गोगोल से लेकर चेखव और गोर्की तक। उनमें से हरेक ने अपने-अपने विश्व-बोध और प्रतिभा के अनुसार सामाजिक जीवन की तत्कालीन

केन्द्रीय समस्याओ (विशेष) को मूर्त कलात्मक (सार्वजनीन) अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया; और हम जानते हैं कि इसमे उन्होने कितनी अद्भुत सफलता प्राप्त की—विश्व-साहित्य मे उनकी महान कृतियां आज भी अनुपम और अद्वितीय हैं और परवर्ती विश्व-साहित्य की मानववादी परम्परा को लगातार प्रभावित करती आ रही हैं।

टेन

अन्य पाश्चात्य देशों मे भी स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया काफी प्रबल थी, लेकिन वहां बेलिन्स्की और चर्निशेव्स्की की प्रतिभा का कोई आलोचक नही हुआ। हम कार्ल मार्क्स और एंगिल्स-जैसे युग-द्रष्टा विचारकों का आलोचकों की श्रेणी में उल्लेख नहीं कर रहे, यद्यपि सौन्दर्य-भावना, कला, साहित्य और मानव-चेतना के विकास-संबंधी उनकी उक्तियों मे गंभीर तात्त्विक उद्भावनाएं मिलती है, जो चर्निशेव्स्की आदि भौतिकवादी विचारकों की स्थापनाओं को और भी गहरा दार्शनिक आधार प्रदान करती है, और उनके आधार पर यथार्थवादी सौन्दर्य-शास्त्र का तब से निरन्तर विकास होता आया है। आवश्यकता पड़ने पर यथास्थान हम उनके साहित्य-संबंधी दृष्टिकोण का उल्लेख करेंगे। तत्काल, फ्रांस, इंगलैण्ड और रूस के अन्य प्रमुख यथार्थवादी आलोचकों के साहित्यिक दृष्टिकोण का संक्षिप्त परिचय देना ही हमें अभीष्ट है। फ्रांस के जिस यथार्थवादी आलोचक ने साहित्य के अध्ययन के लिए "सौन्दर्यात्मक [illegible]" का एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया, उसका नाम है, एच० ए० टेन। उसका कहना है कि आलोचक को एक वैज्ञानिक की तटस्थता से कला-कृतियों और कला की प्रवृत्तियों के बारे में केवल तथ्यों को एकत्र करके उनके जन्म और विकास के बाह्य (अन्त-[illegible]) कारणों की वस्तुपरक जांच-पड़ताल करनी चाहिए, उनकी प्रशंसा या निन्दा करने का उपक्रम नहीं करना चाहिए। इससे हर व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार जिस कृति को पसन्द करे, अपना सकता है। कला की कद्र और

शिल्प-गत सभी प्रवृत्तियों को टेन मानव-आत्मा का नाना रूपात्मक स्फुरण मानता है, अतः उसका दृष्टिकोण सबके प्रति समान रूप से सहानुभूतिशील है। तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार के सापेक्षतावाद का तात्पर्य यह हुआ कि आलोचक एक युग और दूसरे युग की कृतियों में तो तुलना कर ही नहीं सकता, एक युग के दो लेखकों या कलाकारों की एक ही विषय-वस्तु-संबंधी कृतियों में भी तुलना करके उनका मूल्यांकन नहीं कर सकता। इसी प्रकार विभिन्न शैलियों की भी तुलना नहीं की जा सकती। कौन-सी कृति महान है, कौन-सी साधारण, किसकी शैली यथार्थ (विचार-वस्तु) की मार्मिक अभिव्यक्ति करने में सफल हुई है, किसकी नहीं और क्यों, *आदि प्रश्न, टेन के अनुसार, आलोचक के कार्य-क्षेत्र से बाहर के हैं। उसका* कार्य केवल साहित्य और कला के ऐतिहासिक सन्दर्भों की खोज करने तक ही सीमित है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण अत्यन्त एकांगी और यान्त्रिक है। साहित्यालोचन की मूल समस्या—'मूल्यांकन'—की इसमें पूर्ण उपेक्षा हो जाती है। देश-काल और ऐतिहासिक परिस्थितियों के घटकों में बन्द साहित्य की विभिन्न विचारधाराएं और शैलियां, इस दृष्टिकोण के अनुसार कोई सामान्य, देश-काल-निरपेक्ष सौन्दर्य-मूल्य नहीं रखतीं। आलोचना में 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' की विचारधारा टेन की स्थापनाओं का ही परिणाम है, जिसके अनुसार एक ह्रासशील युग के साहित्य को अनिवार्यतः ह्रासोन्मुखी होना चाहिए और कलाकार का जन्म जिस वर्ग में हुआ है, वह उसका ही प्रतिनिधि होता है। मार्क्स, एंगिल्स और लेनिन आदि इस यान्त्रिक दृष्टिकोण के विरोधी थे, और यह मानते हुए भी कि ऐतिहासिक परिस्थितियों का कलाकार की चेतना पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए आलोचक को चाहिए कि वह किसी कृति को ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर जांचे, वे यह भी मानते थे कि प्रतिभाशाली कलाकार अक्सर अपने युग की सीमाओं से ऊपर उठकर देखने की सामर्थ्य रखता है और चूंकि वह यथार्थ को प्रतिबिम्बित करता है, इसलिए वह केवल अपनी वर्ग-चेतना से ही आबद्ध नहीं रहता, क्योंकि यथार्थ या वास्तविकता दो

विरोधी समाज-शक्तियों की द्वन्द्वात्मक अन्विति होती है। ह्रासोन्मुखी युग में भी प्रगतिशील शक्तियां उभरती रहती हैं, और सच्ची कला में अनिवार्यतः प्रतिबिम्बित होती हैं। कलाकार जितनी ईमानदारी से इस द्वन्द्वात्मक वास्तविकता का वैविध्यपूर्ण, मूर्त और सम्पूर्ण चित्रण करते हुए युग की केन्द्रीय समस्याओं को अपनी रचना में प्रतिबिम्बित करता है, उसकी कला उतनी ही अधिक प्राणवान होती है, और युग-सत्य की अभिव्यक्ति का वाहन बनती है। इसलिए देश-काल और युग के भेदों के बावजूद कलाकृतियों का मूल्यांकन संभव ही नहीं, जरूरी भी है।

मैथ्यू आर्नल्ड

इंगलैण्ड के मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२–१८८८ ई०) को भी हम उन्नीसवीं शताब्दी के यथार्थवादी आलोचकों की परम्परा में रख सकते हैं, यद्यपि संस्कृति और साहित्य के बारे में उसकी विचारधारा भाववादी दर्शन से प्रभावित थी। अंग्रेजी साहित्य और समाज पर लगभग आधी शताब्दी तक आर्नल्ड की स्थापनाओं का प्रभाव अन्यतम बना रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में टामस लव पीकाक ने विज्ञान और कविता के संबंध का प्रश्न उठाया था, और कहा था कि कविता का युग बीत गया है। इसके उत्तर में शैले ने कविता की जोरदार वकालत की थी, लेकिन विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति के कारण इस प्रश्न का समुचित समाधान नहीं हुआ था। जिन तथ्यों के बल पर धार्मिक विचारधाराएं टिकी हुई थीं, विज्ञान उनको निराधार और असत्य साबित करता जा रहा था। इसलिए आर्नल्ड के सामने समाज के नैतिक तथा मानव-मूल्यों के लिए कोई नया स्रोत खोजने की समस्या थी, जिसे वैज्ञानिक ज्ञान असत्य नहीं साबित कर सकेगा। आर्नल्ड ने काव्य (साहित्य) को ही मूल्यों का ऐसा अक्षय स्रोत माना। लेकिन इस प्रश्न के उत्तर में कि साहित्य का विज्ञान से अलग अपना क्या विशिष्ट प्रयोजन और कार्य है, आर्नल्ड ने मिल्टर और शैले की तरह कुछ सामान्य बातें ही कहीं, कोई तात्त्विक विवेचन नहीं किया। फिर भी,

साहित्य को "जीवन की आलोचना" कहकर उसने परवर्ती आलोचकों के लिए आलोचना का एक नया मानदंड प्रदान किया। आर्नल्ड को तुलनात्मक आलोचना का जन्मदाता भी कहा जाता है। वस्तुतः आर्नल्ड की महत्ता इस कारण अधिक है कि उसने पहली बार व्यावहारिक आलोचना के नियमों का निरूपण किया। 'साहित्य क्या है?' जैसे तात्त्विक प्रश्नों में न उलझकर उसने आलोचक के सामाजिक दायित्व को विस्तार से समझाने की कोशिश की। उसके साहित्य-संबंधी तात्त्विक विचार अरस्तू से भिन्न नहीं हैं। अरस्तू की तरह वह भी मानता था कि काव्य-रचना में कथा-वस्तु, या कार्यव्यापार ही सबसे प्रधान तत्त्व है। यह कार्य-व्यापार 'श्रेष्ठ' होना चाहिए। कौन-से कार्य 'श्रेष्ठ' (अनुकरणीय) होते हैं? आर्नल्ड का उत्तर है—"वे कार्य जो मानव के मूल और उदात्त रागों और संवेदनों को प्रीतिकर लगते हैं; उन मूलभूत भावनाओं को, जो जाति के मानस में स्थायी रूप से अवस्थित रहती हैं और जो काल-निरपेक्ष हैं।" यह मान्यता अपने-आपमें सत्य है। लेकिन इसने आर्नल्ड के दृष्टिकोण को काफी संकीर्ण बना दिया, क्योंकि उसका विचार था कि ऐसी महान और उदात्त विचार-वस्तु सामयिक जीवन में नहीं चुनी जा सकती, जो प्रगति, औद्योगिक-विकास और नैतिक क्षुद्रताओं से आक्रान्त है। इस संकीर्णता के कारण ही आर्नल्ड अपने युग की महान रचनाओं का सही मूल्यांकन करने में अक्सर समर्थ नहीं हो पाता था। तॉलस्तॉय के महान उपन्यास को उसने कलाकृति न मानकर केवल 'जीवन का एक टुकड़ा' और अपनी यथार्थता में महान माना! इस तरह जीवन और कला में एक विरोध की कल्पना करके उसने अपने दृष्टिकोण की असंगति का परिचय दिया—जब कि वह स्वयं साहित्य को 'जीवन की आलोचना' मानता था। लेकिन आलोचक के सामाजिक दायित्व के बारे में आर्नल्ड की अनेक स्थापनाएं आज भी मूल्यवान हैं। उसके अनुसार एक आलोचक को 'निस्वार्थी' होना चाहिए, इस अर्थ में कि विश्व-साहित्य में जो कुछ भी श्रेष्ठतम और महनीय है, वह उसका अध्ययन-मनन और प्रचार करे, ताकि 'प्राणवान

और सत्य विचारों की धारा प्रवाहित' की जा सके। इस उद्देश्य से आर्नल्ड ने आलोचक को साहित्य-ज्ञान पर आधारित 'संस्कृति' के उन्नायक की भूमिका प्रदान की। उसकी दृष्टि में संस्कृति "पूर्णता का अध्ययन है.... माधुर्य और आलोक उसके विशिष्ट गुण हैं। मानव-मात्र के प्रति प्रेम और उसकी समस्याओं को समझना संस्कृति के मुख्य अंग हैं। संस्कृति का उद्देश्य है, जीवन में उदात्त मूल्यों और उद्देश्यों की सम्यक् प्रतिष्ठा करना। जीवन में साध्य और साधन, स्थायी और अस्थायी, पूर्ण और अपूर्ण के भेदाभेद की व्याख्या संस्कृति का मुख्य प्रयोजन है।" मनुष्य को सांस्कृतिक पूर्णत्व की प्राप्ति में योग देने के लिए आलोचक के हृदय में "लोक-मंगल के प्रति नैतिक और सामाजिक उत्साह" होना जरूरी है। जिन आलोचकों का उद्देश्य मानव-मात्र की 'सांस्कृतिक पूर्णता' नहीं है और जो अपने निजी व्यावहारिक अथवा भौतिक स्वार्थों को अधिक महत्व देते हैं, उन्हें आर्नल्ड ने 'फिलिस्टीन' (क्षुद्र-मना और असंस्कृत) की संज्ञा दी है। अपनी पुस्तक 'कविता का अध्ययन' में आर्नल्ड ने कहा है कि आलोचक को चाहिए कि किसी रचना का 'ऐतिहासिक' या 'व्यक्तिगत' मूल्यांकन न करके 'वास्तविक मूल्यांकन' करे। यह तभी सम्भव है जब उसमें सच्ची, महान कृतियों (क्लासिक) को समझने और उनमें आनन्द लेने की क्षमता हो और साधारण रचनाओं से उनका भेद करने का विवेक हो। महान रचनाओं की विषय-वस्तु में बड़ी 'सत्य और गम्भीरता' होती है, तथा उनकी शैली और रूप-विन्यास में भी उच्चकोटि का सौन्दर्य, सम्पन्नता और शक्ति होती है। इसलिए आर्नल्ड का निर्देश है कि आलोचक को स्मृति में महान लेखकों की पंक्तियाँ और अभिन्न उक्तियाँ रखनी चाहिए ताकि किसी नयी कृति की परख करते समय उनका कसौटी की तरह इस्तेमाल कर सके। यह एक प्रकार से क्लासिकवादी स्वच्छन्दतावादियों के मत से मिलता-जुलता विचार है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि प्राचीन साहित्य को महान कलाकार रूप के दृष्टान्त रूप में ही इस्तेमाल करना चाहिए, उसके प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए। इससे प्राचीन के प्रति अंध भक्ति और

नवीन के प्रति उपेक्षा का भाव आलोचक में पैदा होना स्वाभाविक हो जाता है।

रस्किन

उन्नीसवीं शती के अन्त मे यथार्थवादियों और उपयोगितावादियों की परम्परा में दो और चिन्तक हुए, जिन्होंने प्लेटो की तरह साहित्य और कला के लिए नैतिक प्रतिमान का प्रतिपादन किया। लेकिन जहां प्लेटो अपने तात्त्विक विवेचन के बाद इस परिणाम पर पहुंचा था कि कविता (साहित्य) अनुकृति की अनुकृति और एक प्रमादी (कवि) की कृति होने के कारण स्वभावतः अनैतिक वस्तु होती है, वहां रस्किन (१८१९-१९०० ई०) की मान्यता यह थी कि कविता और कला का मूलस्रोत मनुष्य की कल्पना के माध्यम से व्यक्त होनेवाला परम चेतन-तत्त्व है। इसलिए श्रेष्ठ कला अनैतिकता को प्रश्रय नहीं दे सकती। रस्किन की दृष्टि में सौन्दर्य एक दैवी-उपहार है, अतः ललित कलाओं का उद्देश्य लोगों को सद् उपदेश द्वारा माधुर्य और आलोक प्रदान करना होना चाहिए। कोरा मनोरंजन उसका उद्देश्य नहीं हो सकता। रस्किन स्वभाव से प्रकृति-प्रेमी और शिक्षक था और उसके लेखन और चिन्तन का विषय निसर्ग-सौन्दर्य के प्रति मानव-हृदय को संवेदनशील बनाकर उसे धार्मिक और नैतिक दृष्टि से ऊंचा उठाना था। इसलिए साहित्य और कला मे वह 'शिवत्व' को ही प्रधान सौन्दर्य-विधायक तत्त्व मानता था। रस्किन का यह भी विचार था कि कवि या कलाकार स्वयं अगर उच्च आशयवाला नैतिक प्राणी न हो तो वह उच्च कोटि की नैतिक कला का निर्माण नहीं कर सकता। रस्किन का कला-संबंधी दृष्टिकोण कुछ लोगों को अतिवादी और संकीर्ण लगता है, विशेषकर 'कला कला के लिए' के समर्थकों को। यह सही है कि उसने 'शिवत्व' और 'नैतिक उद्देश' को कला की कसौटी बताकर मूल्यांकन की समस्या का अति सरलीकरण कर दिया है, जिससे 'शिवत्व' के बारे में विभिन्न धार्मिक, राजनैतिक, दार्शनिक, दृष्टिकोणों से मतभेद की काफ़ी

गुंजाइश छूट जाती है। लेकिन रस्किन के निबंधों से, कम-से-कम एक बात तो स्पष्ट है कि औद्योगिक पूंजीवाद की नैतिकता और कला-विरोधी प्रवृत्तियों से उसका सहज संवेदनशील हृदय बेहद खिन्न था, और किसी वैज्ञानिक और वस्तुन्मुखी जीवन-दर्शन के अभाव में उसने कला को ही समाज के नैतिक उत्थान का एकमात्र साधन बनाने की एकांगी चेष्टा की। नहीं तो, उसके निबंधों में हमें एक मनीषी और विशाल-हृदय चिन्तक का औदार्य और सौन्दर्य के प्रति गहरा अनुराग मिलता है।

तॉलस्तॉय

लियो तॉलस्तॉय (१८२८-१९१० ई०) रस्किन की तरह केवल विचारक ही नहीं हैं। वे विश्व के महानतम उपन्यासकार भी हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा की तुलना केवल शेक्सपियर से ही की जा सकती है। 'युद्ध और शान्ति' और 'अन्ना करेनीना' तथा अन्य उपन्यासों, नाटकों और कहानियों में तॉलस्तॉय ने यथार्थवादी कला का जो महान आदर्श प्रस्तुत किया, वह अभूतपूर्व था और आज भी अननुकरणीय है। इसलिए तॉलस्तॉय के लिए कला केवल भोग और भावन की वस्तु नहीं थी, वह उसका सब से बड़ा साधक और स्रष्टा भी था—ऐसा सचेतन स्रष्टा जो अपनी धार्मिक विचार-धारा और नैतिक धारणाओं का आरोपण जीवन के यथार्थ-चित्रण पर नहीं करता था। इसलिए उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'कला क्या है?' में संगृहीत कला और साहित्य-संबंधी निबंधों में हमें उस मौलिक द्वन्द्व के दर्शन मिलते हैं जो उसके कलाकार और विचारक में था। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अरस्तू के बाद कला और साहित्य-संबंधी मूलभूत प्रश्नों पर और किसी विचारक ने इतनी समग्र दृष्टि से विचार नहीं किया था, जितना तॉलस्तॉय ने। उसके सौन्दर्य-सिद्धान्तों में भयंकर असंगतियाँ भी मिलती हैं, जो उसके उस आन्तरिक द्वन्द्व का परिणाम हैं, जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है। किन्तु इन असंगतियों के बावजूद दो बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं; पहली तो यह कि तॉलस्तॉय की अन्तर्भेदी दृष्टि

से कला की रचना-प्रक्रिया से लेकर उसकी रसोद्बोधन की प्रक्रिया तक की कोई भी समस्या छिपी नहीं थी, इसलिए अपने निबंधों और डायरियों में उसने कला-संबंधी ऐसी मौलिक उद्भावनाएं की हैं, जो अपनी व्यापकता के कारण सार्वजनीन इयत्ता रखती है। दूसरे, तॉलस्तॉय उच्च वर्ग की कला, विशेषकर साहित्य और कला में उन्नीसवीं शती के अंत में 'कला' कला के लिए' के नाम पर मुखरित ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का घोर विरोधी था। उसका विचार था कि ये प्रवृत्तियां "जनता की गुलामी" के कारण ही पैदा हुई हैं। "पूंजी के गुलामों को स्वतंत्र कर दो तो इस तरह की अति-सूक्ष्म कला का निर्माण करना ही असंभव हो जायगा।" इस तरह साहित्य और कला की उसकी दृष्टि में जन-जीवन से अभिन्न संबंध होना जरूरी था। कला और उसकी प्रक्रिया क्या है, इसकी व्याख्या करते हुए तॉलस्तॉय ने लिखा कि "जो भावना किसी ने पहले अनुभव की है, उसे अपने में जगाना और अपने में जगाकर भंगिमाओं, रेखाओं, रंगों, ध्वनियों या शब्दों में व्यंजित रूप-प्रकारों द्वारा इस प्रकार उस भावना को व्यक्त करना कि दूसरे भी उसका अनुभव करें—यही कला की प्रक्रिया है। "लेकिन ऐसी अभिव्यक्ति कलाकृति तभी बनती है जब उसमें कुछ नवीनता हो—ऐसी नवीनता कि कृति की विचार-वस्तु मानवता के लिए महत्वपूर्ण हो; यह विचार-तत्व इतनी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया जाय कि मनुष्य उसे समझ सकें; तीसरे, जब रचनाकार को अपनी रचना में प्रवृत्त करनेवाला प्रेरक-तत्व कोई बाह्य स्वार्थ या प्रयोजन न हो, बल्कि अभिव्यक्ति की आन्तरिक अनिवार्यता हो। "कला एक मानवीय क्रिया है, जिसका स्वरूप यह है कि एक व्यक्ति सचेतन रूप से कुछ बाह्य संकेतों द्वारा स्वानुभूत भावनाओं को दूसरों के प्रति संप्रेषित करता है और दूसरों में भी वे ही भावनाएं जाग्रत होती है, और वे उनका अनुभव करते हैं।" कला "न ईश्वर की रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति है, न वह ऐसी क्रीड़ा है जिसमें मनुष्य अपनी संचित शक्ति के अतिरेक का उत्सर्ग करता है; न वह केवल आनन्द है, जैसा कि विभिन्न विचारधाराओं के लोग कहते हैं।" तॉलस्तॉय के अनुसार कला मनुष्यों के

बीच एकता स्थापित करने का साधन है। वह सब को उन सामान्य भावनाओं में बांध देती है जो व्यक्ति तथा मानव के कल्याण, प्रगति और जीवन के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से "पूर्ण कलाकृति वह होगी जिसकी विचार-वस्तु सब व्यक्तियों के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक होगी और इसलिए नैतिक होगी। अभिव्यक्ति सब के लिए बिल्कुल स्पष्ट और बोधगम्य होगी, इसलिए सुन्दर होगी। अपनी रचना के साथ कलाकार का संबंध पूर्णतः निष्ठापूर्ण और मार्मिक होगा, और इसलिए सत्य भी।" इस प्रकार तॉलस्तॉय के विचार में सत्य, शिव और सुन्दर के संयोग से ही पूर्ण कलाकृति की सृष्टि संभव है। शेष सब प्रकार की अपूर्ण रचनाएं तीन वर्गों में बांटी जा सकती है: (१) वे जो अपनी विचार-वस्तु के महत्व के कारण अन्य कृतियों से भिन्न हैं; (२) वे जो अपने रूप-विधान के सौन्दर्य के कारण अन्य कृतियों से भिन्न हैं; और (३) वे जो अपनी आन्तरिक निष्ठा के कारण अन्य कृतियों से भिन्न हैं। तॉलस्तॉय का विचार है कि जहां कला है वहां अनिवार्यतः इन तीनों वर्गों की कला का भी सृजन होगा, क्योंकि ऐसी रचनाएं पूर्णकला की सीमा का एक-न-एक जगह स्पर्श करती हैं। इस प्रकार "पहले, दूसरे या तीसरे गुण की प्रधानता के आधार पर सब कलाकृतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है, और उन सब का इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है: (१) वे जिनमें विचार-वस्तु और सौन्दर्य का सद्भाव और निष्ठा का अभाव है; (२) वे जिनमें विचार-वस्तु का सद्भाव है, लेकिन सौन्दर्य और निष्ठा का अभाव है, और (३) वे जिनमें विचार-वस्तु का अभाव है, किन्तु जो सुन्दर और निष्ठापूर्ण हैं। इसी प्रकार उक्त गुणों को भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त और संश्लिष्ट करने पर अन्य अनेक वर्ग भी बनाये जा सकते हैं।" तॉलस्तॉय ने इस प्रकार कलाकृतियों के मूल्यांकन की एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक प्रणाली का मार्ग-निर्देश किया। उसका कहना है कि विभिन्न युगों में कला के विभिन्न तत्त्वों पर अधिक जोर दिया गया है—कभी उसकी विचार-वस्तु (निबन्ध) पर, कभी रूप-विधान (सौन्दर्य) पर तो कभी कलाकार की निष्ठा (सत्य) पर, जिससे साहित्यालोचन और मूल्यांकन

के विभिन्न एकांगी सिद्धान्तों का विकास होता रहा है, लेकिन सही मूल्यांकन के लिए पूर्ण कला को इन तीनों शर्तों को कसौटी बनाना चाहिए। 'सत्' और 'नैतिक' शब्दों के बारे मे अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए तॉलस्तॉय ने कहा कि "जो मानव को हिंसा से नहीं प्रेम से सगठित करे, जो मनुष्यो की पारस्परिक एकता के आनन्द को प्रकाशित करने मे योग दे, वही 'महत्व-पूर्ण' 'सत्' या 'नैतिक' है। 'असत्' और 'अनैतिक' वह है जो मनुष्यो मे फूट डालता है, और मनुष्यो को इस फूट से उत्पन्न दु:खो की ओर ले जाता है. . . ।" योरप की ह्रासोन्मुखी कला-प्रवृत्तियो का तॉलस्तॉय ने घोर विरोध किया। कला मे ह्रासोन्मुखता की परख करने का सीधा-सादा मानदड तॉलस्तॉय ने यह बताया कि जब सिद्धान्तत यह मानकर चला जाय कि कला वह है जो केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही बोधगम्य होती है और उसे जन-साधारण के लिए अगम्य होना चाहिए, तब हम उस सिद्धान्त और उसका अनुसरण करनेवाली कला-प्रवृत्तियो को ह्रासोन्मुखी पुकार सकते हैं। अपनी डायरी मे एक जगह तॉलस्तॉय ने लिखा, "हमारी कला जो धनी वर्गों के मनोरजन के निमित्त रची जाती है, वह वेश्या-वृत्ति के समान ही नहीं, वस्तुत: वेश्या-वृत्ति है।" एक और स्थान पर उसने कहा कि, "आजकल जिन लोगो के पास कहने को कुछ नहीं है वे पुस्तकें लिखते हैं। आप पुस्तकें पढ़ते हैं और आपको लेखक नजर नहीं आता। ऐसे लेखक हमेशा 'अधुनातन बातें' कहने की कोशिश करते दिखायी देते हैं। वे सच्चे लेखकों को खदेड़ देते हैं, क्योंकि वे उनके कहे के अनुसार पुराने फैशन के हो गये हैं। यह एक हास्यास्पद विचार है—पुराने फैशन के! सामयिक लेखकों की पुस्तकें सिर्फ 'अधुनातन बातें' जानने के लिए ही पढ़ी जाती हैं। और यह काम सच्चे लेखकों की कृतियों को पढ़ने और जानने से कहीं ज्यादा आसान होता है। इन 'अधुनातन बातों' के लेखकों ने अपार क्षति पहुँचाई है, क्योंकि वे लोगों से स्वतत्र रूप से सोचने की आदत छुड़वा देते हैं।" तॉलस्तॉय के कला और सौन्दर्य-संबंधी ये विचार, कतिपय आतरिक असगतियों के बावजूद, साहित्य मे मानववाद, सत्य और यथार्थवाद के उच्चादर्शों का प्रतिपादन

करते हैं और साहित्य और कला को जन साधारण की सम्पत्ति बनाने पर जोर देते हैं। सच्चा कलाकार एक सत्यान्वेषी होता है और कला में जीवन-सत्य को सुन्दरतम अभिव्यक्ति देने का नया मार्ग खोजता है, उसकी ये उद्भावनाएं सार्वभौम और सार्वकालिक महत्त्व रखती हैं। बेलिन्स्की और चर्निशेव्स्की की तरह उसकी भी यही स्थापना है कि सौन्दर्य-भावना मूलतः स्मृति-मूलक है—चित्र-स्मृति है, जो भावों और अनुभूतियों की स्मृति जगाती है। जीवन-स्मृतियों की ये जाग्रत स्मृतियाँ निसर्गतः सुन्दर और सुखद लगती हैं।

: ७ :

कला, कला के लिए : रूपवादी सिद्धान्त

रस्किन और तॉलस्तॉय ने साहित्य और कला की जिन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विरोध किया था, उनका उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में फ्रांस में जन्म हुआ था और बाद में अन्य पाश्चात्य देशों में प्रचलन हुआ। रूप-तत्त्व के किसी एक या दूसरे पक्ष को आत्यन्तिक महत्व देनेवाली इन विभिन्न एकांगी प्रवृत्तियों और उनसे प्रभावित सौन्दर्य-दृष्टियों में एक बात सामान्य रही है, वह यह कि वे कला को ही कला का साध्य मानती हैं, किसी बाह्य-प्रयोजन का साधन नहीं। यदि मात्र साहित्य और कला के सन्दर्भ में देखें तो कहा जा सकता है कि सब से पहले 'प्रतीकवाद' के रूप में रूपवादी प्रवृत्ति का उदय फ्रांस में फ्लावेयर और ज़ोला के प्रकृतवाद (नेचुरलिज़्म) के विरुद्ध एक अन्तर्मुखी प्रतिक्रिया का परिणाम था। लेकिन वस्तुतः यह आरंभ में कला को व्यावसायिक लाभ की वस्तु बनानेवाली पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध उन अन्तर्मुखी, संवेदनशील कलाकारों और लेखकों का अंध-विद्रोह था, जो अपने युग के परिवर्तनों को समझने में असमर्थ थे। बाद में कला और

कलाकार की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करनेवाले जीवन की वास्तविकता से इतने दूर हटते गये कि 'कला, कला के लिए' विश्व के सभी प्रतिक्रियावादी लेखकों और कलाकारों का नारा बन गया। पूँजीवाद की व्यावसायिक वृत्ति के प्रति बॉद्लेयर, वर्लेन, रिम्बो और मलार्मे-जैसे प्रतीकवादी कवियों के अंध-विद्रोह की परिणति बीसवीं शताब्दी में आकर, एजरा पाउण्ड के 'बिम्बवाद', ईलियट के 'अभिव्यंजनावाद' और ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ और डोरोथी रिचार्डसन के 'चेतना-प्रवाहवाद' आदि जैसी रूपवादी विकृतियों में हुई, जिसमें कुंठा, निराशा, अनास्था, यहाँ तक कि मानवद्रोह और समाजवाद-विरोध के स्वर ही अधिक मुखर हुए हैं और पूँजीवाद की कला-विरोधी व्यावसायिक और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को एक प्रकार से 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की मानवोचित स्थिति मान लिया गया है। अतः तॉल्स्तॉय का विरोध उसकी दूरदर्शिता का ही परिचय देता है। आज पाश्चात्य साहित्य और कला में इन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का जोर है और इसके अनुरूप ही पाश्चात्य आलोचना में भी मुख्यतः रूपवादी सिद्धान्तों और सौन्दर्य-दृष्टियों का ही जोर है।

वाल्टर पेटर

'कला, कला के लिए'—इस दृष्टिकोण का सबसे पहले सैद्धान्तिक निरूपण करनेवालों में अंग्रेज कवि और आलोचक वाल्टर पेटर (१८३९-१८९४ ई०) का नाम प्रमुख है। उसका कहना था कि कला एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया है, इसलिए उसकी विशिष्टता ही आलोचना का विषय है। कला का साध्य कला है, कोई बाह्य उद्देश्य या प्रयोजन नहीं। वाल्टर पेटर ने अपने प्रसिद्ध निबंध *'शैली'* में अपने *आलोचना-सिद्धान्तों का प्रति*-पादन करते हुए रूपगत तीन तत्त्वों का विवेचन किया—शब्द-विन्यास, शैली और रूप-विधान। इन तीनों का संबंध कला के शरीर से है, लेकिन *इनकी समंजस योजना में ही कला की आत्मा* प्रस्फुटित होती है, इसलिए आलोचक को इनके प्रति ही एकाग्र और संवेदनशील होना चाहिए। शब्द-

योजना का तात्पर्य शब्दों के सम्यक् चुनाव से है—चुनाव ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ भी फालतू न हो। शैली से तात्पर्य केवल अभिव्यंजना का प्रकार ही नहीं, बल्कि ऐसी अभिव्यंजना से है जो लेखक या कलाकार के 'वास्तविक' व्यक्तित्व का प्रकाशन करे—वास्तविक अर्थात साधारण नहीं बल्कि विशिष्ट संवेदना और दृष्टि से संयुक्त व्यक्तित्व का। रूप-विधान से तात्पर्य रचना-तंत्र से है, जो शब्द-विन्यास और शैली से युक्त कृति का समष्टि रूप है। वाल्टर पेटर के अनुसार लेखक का उद्देश्य जीवन या वास्तविकता की 'अनुकृति' प्रस्तुत करना नहीं होता, बल्कि उसके प्रति अपनी भावना का प्रकाशन करना होता है। इसलिए कृति में सत्य की कसौटी वास्तविकता नहीं है, बल्कि यह है कि उसके प्रति वह अपनी भावना को किस अनुपात में सही-सही अभिव्यक्ति दे सका है। पेटर के अनुसार "सब प्रकार का सौन्दर्य अन्ततः सत्य का 'सूक्ष्मीकरण' ही होता है, अर्थात् जिसे हम अभिव्यक्ति कहते हैं, वह आन्तरिक भावना के प्रति शब्द की सूक्ष्मतर अनुकूलता है।" इस प्रकार पेटर अभिव्यक्ति में ही सत्य की अवस्थिति मानता है, भावना या आन्तरिक दृष्टि में भी नहीं। लेखक की प्रतीति या भावना-प्रतिक्रिया किस कोटि की है, कितनी व्यापक, संगत या सत्य है, इन प्रश्नों में पेटर ने दिलचस्पी नहीं दिखायी। रचना के बाह्य-रूप का सौन्दर्य कितना भी पूर्ण क्यों न हो, लेकिन लेखक अपनी जिस भावना या प्रतीति को अभिव्यक्त करता है वह कैसी है, गंभीर या सतही, ये प्रश्न प्रासंगिक हैं, और इनकी अवहेलना करके कोई आलोचना-सिद्धान्त साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं कर सकता। पेटर की दृष्टि से देखा जाय तो डिकेन्स, ह्यूगो, दोस्तोयव्स्की यहां तक कि शेक्सपियर भी श्रेष्ठ कलाकारों की सूची से खारिज हो जायेंगे क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति हर जगह उतनी चुस्त और संयत नहीं है, जितनी अपेक्षा पेटर ने की है। 'आनन्द' को कविता का साध्य माननेवाले विचारकों ने भी विचार-वस्तु की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया, क्योंकि अभिव्यक्ति चाहे जिस प्रकार या कोटि की हो, गंभीर वस्तु के बिना वह कोरा शब्दाडम्बर बन जाती है। लेकिन 'कला, कला के लिए' का झंडा उठाकर

चलनेवाली सभी प्रवृत्तियां साहित्य या कला की विचार-वस्तु को गौण और आनुषंगिक स्थान तक देना तो दूर, उसे विचारणीय तत्त्व भी नही मानती और केवल रूप-तत्त्व को ही मनन और आस्वादन की वस्तु घोषित करती हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा था "कथन की अनन्त शैलिया हो सकती हैं।" तो जब से 'कला, कला के लिए' का आन्दोलन चला है, तब से कथन की अनन्त शैलियां और उनके आधार पर आलोचना की अनन्त दृष्टियां तो सामने आयी हैं, लेकिन 'कथ्य' के प्रति उपेक्षा बढ़ती गयी है, और इस अनुपात मे महान और श्रेष्ठ कृतियो की रचना भी विरल होती गई है।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध से जिन रूपवादी और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो ने पाश्चात्य साहित्य को आक्रान्त कर रखा है, बीसवी शती मे उनका जोर कम नही हुआ, बल्कि पाश्चात्य पूजीवादी संस्कृति के संकट ने उनको विभिन्न सम्प्रदायो मे बँटकर पनपने का अनुकूल अवसर प्रदान किया। जो आन्दोलन जर्जर रूढियो और बौद्धिक परम्पराओ के विरुद्ध मौलिकता और नये प्रयोगों की माग लेकर उठा था और जिसने व्यक्ति-स्वातंत्र्य और कला को ही साध्य माना था, वह विकृत होकर मात्र रुचि-वैचित्र्यवाद और रूप-तत्त्व के ही विघटन मे परिणत हो गया। ह्रास की यह प्रक्रिया तब से जारी है। इस बीच साहित्य के जो अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये हैं, उनमें यह बात सामान्य है कि वे कला-विवेचन मे वस्तु-तत्त्व को अविचारणीय मानते हैं और रूप-तत्त्व के विश्लेषण को ही मूल्याकन का केन्द्रीय प्रश्न समझते हैं।

प्रतीकवाद

हम बोद्लेयर, वर्लेन, रिम्बॉं, मलार्मे और मेटरलिंक के प्रतीकवादी आन्दोलन का उल्लेख कर चुके हैं। यह आन्दोलन रूपवादी था, यह भी बताया जा चुका है। प्रतीकवादियों ने साहित्य या कला में प्रकृतवाद और रूपगत रूढियो के विरुद्ध विद्रोह करके प्रतीकों के माध्यम से भावों विचारों

योजना का तात्पर्य शब्दों के सम्यक् चुनाव से है—चुनाव ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ भी फालतू न हो। शैली से तात्पर्य केवल अभिव्यंजना का प्रकार ही नहीं, बल्कि ऐसी अभिव्यंजना से है जो लेखक या कलाकार के 'वास्तविक' व्यक्तित्व का प्रकाशन करे—वास्तविक अर्थात साधारण नहीं बल्कि विशिष्ट संवेदना और दृष्टि से संयुक्त व्यक्तित्व का। रूप-विधान से तात्पर्य रचना-तंत्र से है, जो शब्द-विन्यास और शैली से युक्त कृति का समष्टि रूप है। वाल्टर पेटर के अनुसार लेखक का उद्देश्य जीवन या वास्तविकता की 'अनुकृति' प्रस्तुत करना नहीं होता, बल्कि उसके प्रति अपनी भावना का प्रकाशन करना होता है। इसलिए कृति में सत्य की कसौटी वास्तविकता नहीं है, बल्कि यह है कि उसके प्रति वह अपनी भावना को किस अनुपात में सही-सही अभिव्यक्ति दे सका है। पेटर के अनुसार "सब प्रकार का सौन्दर्य अन्ततः सत्य का 'सूक्ष्मीकरण' ही होता है, अर्थात् जिसे हम अभिव्यक्ति कहते हैं, वह आन्तरिक भावना के प्रति शब्द की सूक्ष्मतर अनुकूलता है।" इस प्रकार पेटर अभिव्यक्ति में ही सत्य की अवस्थिति मानता है, भावना या आन्तरिक दृष्टि में भी नहीं। लेखक की प्रतीति या भावना-प्रतिक्रिया किस कोटि की है, कितनी व्यापक, संगत या सत्य है, इन प्रश्नों में पेटर ने दिलचस्पी नहीं दिखायी। रचना के वाह्य-रूप का सौन्दर्य कितना भी पूर्ण क्यों न हो, लेकिन लेखक अपनी जिस भावना या प्रतीति को अभिव्यक्त करता है, वह कैसी है, गंभीर या सतही, ये प्रश्न प्रासंगिक हैं, और इनकी अवहेलना करके कोई आलोचना-सिद्धान्त साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं कर सकता। पेटर की दृष्टि से देखा जाय तो डिकेन्स, ह्यूगो, दॉस्तॉयव्स्की यहां तक कि शेक्सपियर भी श्रेष्ठ कलाकारों की सूची से खारिज हो जायेंगे, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति हर जगह उतनी चुस्त और संयत नहीं है, जिसकी अपेक्षा पेटर ने की है। 'आनन्द' को कविता का साध्य माननेवाले विचारकों ने भी विचार-वस्तु की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया, क्योंकि अभिव्यक्ति चाहे जिस प्रकार या कोटि की हो, गंभीर वस्तु के बिना वह कोरा शब्दाडम्बर बन जाती है। लेकिन 'कला, कला के लिए' का झंडा उठाकर

चलनेवाली सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य या कला की विचार-वस्तु को गौण और आनुषंगिक स्थान तक देना तो दूर, उसे विचारणीय तत्त्व भी नहीं मानतीं और केवल रूप-तत्त्व को ही मनन और आस्वादन की वस्तु घोषित करती हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा था "कथन की अनन्त शैलियाँ हो सकती हैं।" तो जब से 'कला, कला के लिए' का आन्दोलन चला है, तब से कथन की अनन्त शैलियाँ और उनके आधार पर आलोचना की अनन्त दृष्टियाँ तो सामने आयी हैं, लेकिन 'कथ्य' के प्रति उपेक्षा बढ़ती गयी है, और इस अनुपात में महान और श्रेष्ठ कृतियों की रचना भी विरल होती गई है।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में जिन रूपवादी और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों ने पाश्चात्य साहित्य को आक्रान्त कर रखा है, बीसवीं शती में उनका ज़ोर कम नहीं हुआ, बल्कि पाश्चात्य पूँजीवादी संस्कृति के संकट ने उनको विभिन्न सम्प्रदायों में पैठकर पनपने का अनुकूल अवसर प्रदान किया। जो आन्दोलन जर्जर रूढ़ियों और बौद्धिक परम्पराओं के विरुद्ध मौलिकता और नये प्रयोगों की माँग लेकर उठा था और जिसने व्यक्ति-स्वातंत्र्य और कला को ही साध्य माना था, वह विकृत होकर मात्र रुचि-वैचित्र्यवाद और रूप-तत्त्व के ही विघटन में परिणत हो गया। ह्रास की यह प्रक्रिया तब से जारी है। इस बीच साहित्य के जो अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये हैं, उनमें यह बात सामान्य है कि वे कला-विवेचन में वस्तु-तत्त्व को अविचारणीय मानते हैं और रूप-तत्त्व के विश्लेषण को ही मूल्यांकन का केन्द्रीय प्रश्न समझते हैं।

प्रतीकवाद

हम बोद्लेयर, वर्लेन, रिम्बों, मलार्मे और मेटर्लिंक के प्रतीकवादी आन्दोलन का उल्लेख कर चुके हैं। यह आन्दोलन रूपवादी था, यह भी बताया जा चुका है। प्रतीकवादियों ने साहित्य या कला में प्रकृतवाद और रूपगत रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके प्रतीकों के माध्यम से भावों, विचारों

और मनःस्थितियों को अभिव्यक्ति देने पर जोर दिया और इसके लिए बात को सीधे न कहकर सांकेतिक भाषा में व्यक्त करने की प्रणाली अपनायी। उनके प्रतीक आध्यात्मिक और बौद्धिक अर्थों के संकेत-चिह्न होते थे। जहाँ तक कविता के रूप-तंत्र का संबंध है, उन्होंने उसकी गठन, शब्द-विन्यास और छंद-योजना-संबंधी रूढ़ियों को अस्वीकार करके अधिकतर मुक्त-छन्दों का ही प्रयोग किया। अपने ऐन्द्रिक संवेदनों को मूर्त बिम्बों की भाषा में अभिव्यक्ति न देकर अमूर्त प्रतीकों से संकेतित करना ही उन्हें अभीष्ट था। पॉल वर्लेन ने प्रतीकवादियों का आदर्श बताते हुए कहा, "रंग की ज़रूरत नहीं है, कम-से-कम रंग ही चाहिए।" टी० एस० ईलियट की कविताएँ और नाटक प्रतीकवादी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। उनकी दुरूहता, सांकेतिकता और अमूर्तता लेखक की विशिष्ट प्रतीक-योजना का परिणाम है।

प्रभाववाद

उन्नीसवीं शती के मध्य में फ्रांसीसी चित्रकारों मेने, मोने, सिज़ांन और रेनो ने प्रभाववादी शैली का सूत्रपात किया था। लुई मम्फोर्ड के शब्दों में वे "पेड़ का चित्र न बनाकर पेड़ से मन पर पड़े प्रभाव को चित्रित करते थे।" थोड़ी-सी मोटी-तीखी रेखाओं से वे वातावरण की सृष्टि करके पेड़ होने का 'प्रभाव' उत्पन्न करते थे। साहित्य में भी इस प्रवृत्ति का असर पड़ा और प्रभाववादी कवियों और कलाकारों ने वस्तु-वर्णन या चरित्र-चित्रण को अपनी व्यक्तिगत मनःस्थिति से अनुरंजित करना शुरू कर दिया। उनका कहना था कि लेखक का उद्देश्य वस्तु का यथार्थ चित्रण करना नहीं है, बल्कि किसी एक क्षण में वह वस्तु, घटना या पात्र उसे कैसा लगा या दीखा, वह वर्णन करना ही उसका कार्य है। इस तरह प्रभाववादी लेखक कुछ चुने हुए ब्यौरों द्वारा किसी वस्तु से अपने मन पर पड़े प्रभावों को अभिव्यक्ति देता है। प्रभाववादी रचनाओं में इसी कारण मांसलता का अभाव मिलता है, यद्यपि अभिव्यंजनावादी रचनाओं की तरह उनमें वस्तु को विकृत करके प्रस्तुत नहीं किया जाता।

के प्रमुख लेखक हैं। उनके उपन्यासों में बाह्य-घटना-चक्र को प्रस्तुत करके पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं का यथासंभव ज्यों-का-त्यों वर्णन किया जाता है, जिससे उनमें कोई आन्तरिक संगति भी नहीं होती। बाह्य घटनाओं का संकेत पात्रों की घोर अन्तर्मुखी चेतन और अवचेतन प्रतिक्रियाओं से यदि मिलता भी है तो उनमें कोई क्रम या संबंध नहीं रहता। अभिव्यक्ति की यह 'आन्तरिक आत्मकथन' की प्रणाली वस्तुतः बाह्य जगत से संबंध-विच्छेद करके पात्रों के फ्रायडीय अवचेतन और उपचेतन की कन्दराओं में भटकने और रमने की चेष्टा का प्रतिनिधित्व करती है। 'चेतना-प्रवाह' की प्रवृत्ति के उपन्यासों में चूंकि पात्र की मानसिक प्रतिक्रियाओं के माध्यम से ही कथा कही जाती है, इसलिए घटनाएं, संघर्ष, द्वन्द्व सब मानसिक ही होते हैं। घटनास्थल वस्तु-जगत और जीवन न होकर मन का रंगमंच होता है। इसी लिए महत्वहीन और क्षुद्र लगनेवाली घटनाएं चेतना के दर्पण में अतिशय बड़ा आकार और महत्व ग्रहण कर लेती हैं। कार्य-व्यापार केवल मानसिक प्रतिक्रियाओं के रूप में ही होता है, मानसिक ब्यौरों के अम्बार में नगण्य विचार-वस्तु हजारों तहों के नीचे दबकर खो जाती है। इन ब्यौरों में कोई संगति और क्रम, कोई निश्चित डिज़ाइन या फार्म को खोजना असंभव होता है, उनमें अगर कोई अन्विति होती है तो वह पात्र के मानसिक भूगोल की अराजकता का प्रतिबिम्बन करती है। लेकिन चेतना के इस अराजक प्रवाह की इन उपन्यासों में वृत्तात्मक गति दिखायी जाती है, जिससे प्रधान पात्र मुड़-मुड़कर अपने प्रस्थान-बिन्दु पर जा पहुंचता है—उस मनःस्थिति पर जिसे लेखक केन्द्रीय महत्व देना चाहता है। अन्तर्मन की इस कथा का विश्लेषण-प्रणाली से विवरण प्रस्तुत किया जाता है, यानी लेखक पात्र की मानसिक घटनाओं, स्थितियों, संघर्षों और प्रतिक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता हुआ आगे बढ़ता है।

प्रयोगवाद

इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य (पूंजीवादी) जगत में साहित्य और

कला की इन अधुनातन प्रवृत्तियों ने उसके परम्परागत रूप को एकदम बदल दिया है। यों तो कला और साहित्य में रूपगत—शिल्पगत प्रयोग हर देश और काल में होते आये हैं, और हर प्रतिभाशाली लेखक या कलाकार ने जीवन-वास्तव-संबंधी अपने विशिष्ट अनुभव और विचार को मूर्त, कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए अनिवार्यत शिल्पगत प्रयोग किए हैं, लेकिन वे हमेशा एक निमित्त, एक साधन के रूप में ही प्रयोजनीय समझे जाते रहे हैं। किन्तु बीसवीं शती में आकर पाश्चात्य साहित्य और कला में 'प्रयोग' अपने-आपमें 'साध्य' समझा जाने लगा, क्योंकि ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति के आत्म-निष्ठ और अन्तर्मुखी लेखकों और कलाकारों का व्यक्तिवाद अ-सामाजिकता की उस सीमा में प्रवेश कर गया, जहां जीवन-वास्तव के सत्य, सौन्दर्य और शिवत्व से साहित्य या कला का कैसा भी संबंध एक बाह्य आरोपण, और क्रूर प्रतिबंध दिखायी देने लगता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि पाश्चात्य (पूंजीवादी) जगत में न केवल कला और साहित्य में विचार-तत्त्व की उपेक्षा, यहां तक कि उसका बहिष्कार होने लगा है, बल्कि रूप-तत्त्व (शब्द-विन्यास, रचना-तंत्र, शैली आदि) का भी विघटन होने लगा है। आत्मा का नाश करके शरीर के साथ खिलवाड़ यहां तक बढ़ा है कि अवयवों में कोई रूप-संघटना, सामंजस्य, सन्तुलन आदि भी नहीं दिखायी देता और विकलांगता को ही सुन्दर मानकर पूजित किया जा रहा है। अतः साहित्य और कला की आलोचना में भी, इन विकृतियों को सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करने के लिए प्रत्येक नई प्रवृत्ति को ही 'शुद्ध' कला या साहित्य की एकमात्र प्रतिनिधि घोषित करनेवाले आलोचकों की लम्बी कतारें उठ खड़ी होती हैं जो अपनी विचित्र स्थापनाओं से कुछ समय तक (जब तक कि उस प्रवृत्ति का जोर रहता है) पाठकों को 'चमत्कृत' करते रहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य आलोचना वस्तुतः साहित्यिक फ़ैशनों की अनुवर्तिनी बन गई है—अक्सर ऐसा होता है कि जो नये ढंग की रचना करता है, वही उसकी 'विशिष्टता' को भी समझता है, यदि ऐसा न करे तो वह रचना बोधगम्य या सम्प्रेष्य कैसे होगी और कोई उसको कलाकृति क्यों-

कर मानेगा ? इस तरह लेखक के वक्तव्यों से 'दृष्टि' प्राप्त करके आलोच
का एक दल उठ खड़ा होता है और उस ढंग की रचनाओं के विश्लेषण अ
मापन की नयी प्रणालियाँ स्थिर करने लगता है, यह मानकर कि 'प्रबं
के सोपान की यह अन्तिम सीढ़ी है, इस पर कदम रखते ही कविता
उपन्यास की 'विशिष्ट आत्म-प्रकृति' से हमारा साक्षात्कार हो जायगा।

आई० ए० रिचर्ड्स

रूपवादी आलोचकों की परम्परा में आई० ए० रिचर्ड्स तक तो साहि
और कला का 'मूल्यों' से कुछ-न-कुछ संबंध दिखायी देता है; चाहे ये मू
सत्य से संबंध रखते हों या शिव या सौन्दर्य से, और कला को मूल्यवान क
या क्रिया समझने का तात्पर्य ही यह है कि वास्तविकता के व्यापक प्रसं
में रखकर उसकी विशिष्टता को परखा जा रहा है। आई० ए० रिचर्ड्
ने भाषा के वैज्ञानिक और काव्यगत प्रयोग का भेद करते हुए शब्दों के द
सांकेतिक और भावात्मक अर्थों का निरूपण किया, उसी प्रकार जै
ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने हज़ार-ग्यारह सौ साल पहले हमारे यहां वाच्य
और प्रतीयमान अर्थों का भेद किया था। इसके आधार पर उसने भाषा के
विभिन्न प्रयोगों की अपने-अपने क्षेत्र में प्रयोजनीयता और सार्थकता पर
प्रकाश डाला और गंभीर विवेचन के बाद यह सिद्ध किया था कि कविता
कवि के मन में उत्पन्न होनेवाले एक मूल्यवान मनोवैज्ञानिक सन्तुलन को
पाठक के मन मे स्थानान्तरित करने का वाहन होती है। इस मनोवैज्ञानिक
और अन्ततः रूपवादी सिद्धान्त की एकांगिता दिखायी जा सकती है, लेकिन
इस सिद्धान्त में कला मे उन मूल्यो को ही मान्यता दी गई है, जिन्हें मनो-
वैज्ञानिक दृष्टि से हम जीवन पर लागू करते हैं।

टी० एस० ईलियट

लेकिन रिचर्ड्स के बाद के आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों का अधिक-
तर यही मत है कि साहित्य और कला जीवन से एकदम भिन्न, उससे बाहर

की वस्तुएं हैं और उनका कोई अन्योन्याश्रित संबंध नहीं है। उनका मूल्य स्वयं अपने-आपमें है, जीवन या वास्तविकता के प्रसंग में न उनको समझने की चेष्टा करनी चाहिए, न मूल्यांकन की। उदाहरण के लिए टी० एस० ईलियट ने (The Sacred Wood, सन् १९१७ में) लिखा, "कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से पलायन है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, व्यक्तित्व से पलायन है।" इस सूत्र के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए ईलियट ने आगे लिखा कि, "कवि 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति नहीं देता, बल्कि एक विशिष्ट माध्यम को, जो सिर्फ माध्यम ही होता है, व्यक्तित्व नहीं, जिसमें मन पर पड़े प्रभाव और अनुभूतियां विचित्र और अप्रत्याशित ढंगों से संयुक्त होती हैं। जो प्रभाव और अनुभूतियां मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण होती हैं, संभव है कि कविता में उनको स्थान भी न मिले और जो अनुभूतियां कविता में महत्वपूर्ण होती हैं, मनुष्य के अन्दर, यानी उसके व्यक्तित्व में उनकी भूमिका शायद नगण्य होती है।" इस परिभाषा को आन्तरिक असंगतियों का हम विवेचन नहीं करेंगे, केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि ईलियट का आशय यह प्रतिपादित करना-भर है कि कला निर्वैयक्तिक होनी चाहिए, उसमें वर्णित भाव या विचार महत्वपूर्ण वस्तु नहीं हैं, महत्व अभिव्यक्ति की तीव्रता या चमत्कार-सृजन-क्षमता का है।

जॉन क्रो रैन्सम

प्रसिद्ध अमरीकी आलोचक जॉन क्रो रैन्सम ने 'विशुद्ध कविता' को ही आलोच्य-वस्तु मानकर समस्त कविता को तीन वर्गों में बांट दिया— (१) भौतिक (एक प्रकार से यथार्थवादी) कविता; (२) प्लैटानिक (आदर्श विचारों से प्रेरित) कविता और (३) आधिभौतिक (मेटाफिज़िकल जिसमें देव-कथा और धर्म के संयोग से अलौकिक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है) कविता। रैन्सम केवल तीसरे वर्ग की कविता को ही 'विशुद्ध' मानता है, क्योंकि अपने अलौकिक चमत्कार-सृजन से ऐसी कविता ही

पाठक का ध्यान आकर्षित कर सकती है। कविता का यह गुण ही उन वैशिष्ट्य है, इसलिए आलोचना का विषय केवल आधिभौतिक कवि ही है।

ऑडेन

अंग्रेजी कवि डब्ल्यू॰ एच॰ ऑडेन ने एक निबंध में लिखा कि "काव संबंधी दो सिद्धान्त हैं। एक यह कि कविता एक ऐसा प्रभावशाली माध्य है जिसके द्वारा अपने और दूसरों के अन्दर वाछित भावों का उद्रेक औ अवांछित भावों का निराकरण किया जा सकता है। दूसरा यह कि कवि एक बुद्धि-विलास है, जो नाम देकर, भावों और उनके अव्यक्त संबंधों क चेतना के क्षेत्र में ले आता है। पहले दृष्टिकोण का प्रतिपादन यूनानिय ने किया था और अब कम्युनिस्ट प्रचारक और संसार का जन-समूह ही उसक मानता है। उसका यह दृष्टिकोण गलत है।" एक और स्थान पर ऑडे ने कहा कि "तुम कविता क्यों लिखते हो? इसके उत्तर में अगर कोई नौज वान यह उत्तर देता है कि 'मेरे पास कहने के लिए महत्वपूर्ण बातें हैं' तो वह कवि नहीं है। अगर वह यह उत्तर दे कि 'मुझे शब्दों के गिर्द चक्कर काटना और उनकी ध्वनि सुनना पसन्द है', तो संभव है कि वह कवि बनने के मार्ग में है।"

और अधिक मिसालें देने से कोई लाभ नहीं। इस वर्ग के आलोचना-सिद्धान्त के अनुसार कविता (कविता से तात्पर्य हर प्रकार की कलाकृतियों से भी है) की विशिष्ट प्रकृति और उसका मूल्य इस बात में निहित है कि वह अपने माध्यम—शब्द, रंग, स्वर, लय आदि—का कैसे प्रयोग करती है, और भाषा की संभावनाओं का भरपूर उपयोग करने से उसमें वास्तविकता (कवि-मानस) का उद्घाटन किस ढंग से होता है। आलोचक का कर्तव्य काव्य-भाषा का विश्लेषण करके संश्लिष्टता, दुरूहता, व्यंग, विरोधाभास आदि कविता की विशिष्टताओं को दिखाना-भर है। जिन कविताओं में ये विशि-ष्टताएं मिलती हैं, उनको ही कविता कहा जा सकता है।

लेकिन आलोचना की यह विश्लेषण-पद्धति, जैसा कि ऊपर के विवरण से भी स्पष्ट है, कोई एक ही पद्धति नहीं है। काव्य और साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुरूप ही विश्लेषण की विभिन्न पद्धतियां रूप-तत्त्व के भिन्न-भिन्न तत्त्वों को आत्यन्तिक महत्व देने के कारण एक-दूसरे से भिन्न हैं। किन्तु यह केवल मात्रा-भेद है। हर्बर्ट रीड, एम्पसन, क्लीन्थ ब्रुक, राबर्ट पेन वॉरेन, केनेथ बर्क, आर० पी० ब्लैकमूर, सी० एस० लीविस और आजकल 'नयी आलोचना' के प्रतिपादक किसी-न-किसी रूप में 'विश्लेषणात्मक आलोचना' के ही समर्थक हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि जहां तक भाषा-प्रयोगों के अध्ययन और विश्लेषण का संबंध है, इन आलोचकों ने उनके प्रति सूक्ष्म संवेदनशीलता का परिचय दिया है और इस बात को रेखांकित कर दिया है कि आलोचक को रूप-तत्त्व, विशेषकर माध्यम की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, लेकिन इस विश्लेषण को विचार-वस्तु से संबंधित करने से इन्कार करके उन्होंने आलोचना को सचमुच एक दुरूह बुद्धि-विलास बना दिया है।

हम पहले कह चुके हैं कि बीसवीं शती के पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियां और उनकी अनुवर्तिनी आलोचना-दृष्टियां औपनिवेशिक लूट और शोषण पर पलनेवाले पूंजीवादी जगत के सांस्कृतिक ह्रास और विघटन की युग-व्यापी प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित करती हैं, जिससे सामयिक परिस्थितियों के अनुसार प्रवृत्तियां और आलोचनात्मक-दृष्टियां फैशनों की तरह बदलती रहती हैं। सामयिक परिस्थिति के अन्तर्गत वर्तमान युग का विश्व-व्यापी विचार-संघर्ष, विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदर्शों की टक्कर, हर क्षेत्र में विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति, दो महायुद्धों के परिणाम और तीसरे महायुद्ध का भय, शान्ति-आन्दोलन, साम्राज्यवाद और उपनिवेश-वाद की पराजय पर पराजय, एशिया-अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के देशों की राष्ट्रीय स्वतंत्रता और विश्व की एक-तिहाई जनता द्वारा समाज-वाद और साम्यवाद का निर्माण, ये सभी बातें आती हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य साहित्य और आलोचना की प्रवृत्तियां युग की इन

केन्द्रीय समस्याओं या घटनाओं की एकदम अवहेलना कर सकी हों।
की वास्तविकता से साहित्य को निर्लिप्त और तटस्थ रखकर केवल
को पूर्ण बनाने की साधना और केवल माध्यम के विश्लेषण और
मनन तक सीमित आलोचना दरअसल युग की द्वन्द्वात्मक वास्त
में नये जीवन-सत्यों, नये मानवीय जीवन-मूल्यों और नये मानव-
को उभरती हुई शक्तियों को नकारने का एक विराट् उपक्रम रहा है।
लिए विश्व के साहित्य-मंच पर पाश्चात्य जगत के इस वर्ग के लेखक
आलोचक अभिनेताओं-जैसी मुद्रा में कभी 'खोयी पीढ़ी', कभी 'क्रुद्ध नौज
तो कभी 'बीट्निक' की भूमिका अदा करते हुए सामने आये हैं, और मंच
खड़े होकर उन्होंने कभी आधुनिक युग को 'त्रास का युग' कहकर पु
है, तो कभी घोषणा की है कि इतिहास की प्रगति थम गयी है और अ
इतिहास के वृत्त से बाहर, केवल तत्काल-क्षण में ही जीवित हैं—भवि
का अस्तित्व नहीं रहा, केवल चिर-वर्तमान के एक क्षण से दूसरे क्षण
ही जीवन को संदिग्ध व्याप्ति है। इन मुद्राओं और विचार-भंगिमाओं
इतना बड़ा और चमत्कारपूर्ण उपक्रम पहले तो यह सिद्ध करने के लि
रचा गया कि लेखक का कोई सामाजिक दायित्व नहीं होता (अर्थात लेख
वर्तमान युग-संघर्ष में लोक-मंगल के विधायक जन-पक्ष का समर्थन क
या केवल अपनी रचनाओं में इस युग-संघर्ष को एक सत्यनिष्ठ कलाक
की तरह यथार्थवादी अभिव्यक्ति दे—ऐसी अपेक्षा करना उसकी व्यक्तिग
स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाना है), फिर इस उपक्रम के माध्यम से अनास्था
कुंठा, निराशा, मानवद्रोह आदि की भावनाओं का, 'नये प्रयोग' और
'माध्यम के भरपूर उपयोग' के नाम पर खुलकर प्रचार किया गया और अन्त
में शीत-युद्ध छिड़ते ही 'शुद्ध-कलावाद' का आग्रह छोड़कर एक अबौद्धिक
और अंधे साम्यवाद-विरोध में इन सभी प्रवृत्तियों की अन्तिम परिणति
होते दिखायी दी। पाश्चात्य साहित्य में सम्प्रति इन ह्रासोन्मुखी और अन्त
मानवद्रोही प्रवृत्तियों का ही बोलबाला है और वहां की 'नयी आलोचना'
इन प्रवृत्तियों को ही शिल्प-गत विश्लेषण द्वारा शुद्ध-साहित्य और शुद्ध-कला

घोषित करने का एक विराट् उपक्रम है। फ्रॉयड के मनोविश्लेषण शास्त्र और मार्क्स के 'अस्तित्ववाद' को नयी आलोचना-दृष्टियों का आधार बनाने की भी चेष्टाएं चलती रही हैं, ताकि वास्तविकता से इन्कार करनेवाली प्रवृत्तियों को प्रत्यक्षत गलत या सही, कैसा-भी कोई मनोवैज्ञानिक या तात्त्विक औचित्य प्रदान किया जा सके।

पाश्चात्य साहित्य और आलोचना की अद्यतन प्रवृत्तियों के बारे में इस व्यापक सत्य को रेखांकित करने की जरूरत है, क्योंकि हमारे देश में भी, एक सीमा तक विपरीत परिस्थितियों के बावजूद, लेखकों और आलोचकों का एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है, जिसने उनकी नकल करके अनास्था, कुंठा, मानवद्रोह और अब समाजवाद-विरोध को अपने साहित्यिक कृतित्व का लक्ष्य बना लिया है।

किन्तु भारतीय जनता ने एक शोषणहीन, जनतान्त्रिक, समाजवादी व्यवस्था के निर्माण को अपना राष्ट्रीय लक्ष्य बनाया है, इस लक्ष्य की प्राप्ति पर ही भारतीय स्वतन्त्रता हर भारतवासी के लिए पूरी तरह सार्थक बन सकेगी। इसलिए 'नवीनता' से सहज ही चौंधिया जानेवाले पाठकों और विचारकों को इस वास्तविकता से परिचित होना चाहिए। पाश्चात्य आलोचना के विकास की रूपरेखा में, संभव है कि ये बातें कुछ लोगों को असंगत और राजनीतिक लगें, लेकिन ह्रासोन्मुखी पाश्चात्य साहित्य और आलोचना की नयी प्रवृत्तियों ने स्वयं ही अब राजनीति से तटस्थता का नकाब उतार दिया है, और उसके खुले चेहरे को भी न देखना अपने-आपको धोखा देना होगा।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में जो प्रवृत्तियां पूंजीवादी व्यावसायिकता के विरुद्ध 'कला के लिए कला' का एकांगी आदर्श लेकर पाश्चात्य साहित्य में उठी थीं और जिन्होंने जर्जर सामाजिक रूढ़ियों और खोखली पूंजीवादी नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह किया था, वे बीसवीं शती के मध्य तक पहुंचते-पहुंचते साम्राज्यवाद की समर्थक और समाजवाद की विरोधी बन गयीं, क्योंकि उनका विद्रोह मूलतः व्यक्तिवादी था, सामाजिक चेतना से हीन।

: ८ :

प्रगतिवाद : समाजवादी यथार्थवाद

पाश्चात्य साहित्य में सारवान वस्तु (कन्टेन्ट) का बहिष्कार, लेखक के वास्तव-बोध की विकृति, पात्रों के व्यक्तित्व का स्खलन और अ-सामाजिक अ-नैतिक, कुंठाग्रस्त और मानवद्रोही व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा—और इन बातों के परिणामस्वरूप अनिवार्यतः साहित्य के रूप-तत्त्व (फार्म) का भी विघटन—'सत्य' का यह सिर्फ एक पहलू ही है। साहित्य की इन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को ही एकान्ततः 'आधुनिक' और 'नयी' कहकर चाहे जितना प्रचारित किया जाता हो, लेकिन ये प्रवृत्तियां समग्र रूप से आधुनिक पाश्चात्य साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे अगर समग्र रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं तो केवल विघटनशील पूंजीवादी व्यवस्था के उस मानव-द्रोही विश्व-बोध का, जो युग-परिवर्तन की इस सक्रान्ति-वेला में, अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए, जन-समुदाय की प्रगतिशील आकांक्षाओं, मानववादी जीवन-मूल्यों और समाजवादी लक्ष्यों का उत्तरोत्तर विरोधी बनता गया है। केवल रूपगत विश्लेषण के आधार पर पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की इन मानवद्रोही परिणतियों के ऐतिहासिक कारणों को समझ सकना असम्भव है। लेकिन पाश्चात्य जगत में केवल पूंजीपति और साम्राज्यवादी ही नहीं रहते, और उनका विश्व-बोध ही वहां के जीवन-वास्तव का सच्चा प्रतिनिधि नहीं है, यानी 'सत्य' का एक दूसरा पहलू भी है, उस 'सत्य' का जो उभर रहा है। साहित्य और कला का दीर्घ इतिहास इस बात का साक्षी है कि पिछले युगों में भी प्रतिभाशाली और सत्यान्वेषी लेखकों ने कभी सत्तारूढ़ शोषक-वर्ग के विश्व-बोध को अतर्क्य-भाव से स्वीकार नहीं किया—कम-से-कम उन सक्रान्ति युगों में तो नहीं ही जब सत्ताधारी वर्ग अपनी ऐतिहासिक उपयोगिता खोकर मानव-प्रगति का बाधक बन गया हो। इसके अतिरिक्त साहित्य में समग्र जीवन को प्रतिबिम्बित करने का मतलब ही यह है कि उसमें वास्तविकता के दोनों

अब सामाजिक चेतना, सामाजिक भावना, सामाजिक चेष्टा—इ
वस्तुओं को ये प्रवृत्तियां व्यक्ति-मानव के निर्बन्ध विकास में बाधक
हैं। विश्व की पूंजीवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों का भी यही
कोण है। इस प्रकार साहित्य और कला की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तिय
ह्रासोन्मुखी पूंजीवाद-साम्राज्यवाद का विश्व-बोध इस बिन्दु पर
मिल गया है और उनमें अब कोई अन्तर्विरोध नहीं रहा। इसलिए
आश्चर्य की बात नहीं है कि नयी पाश्चात्य आलोचना के सामने
प्रश्न 'मूल्यांकन' का नहीं, रूपगत 'विश्लेषण' का है। 'मूल्यांकन'
संभव है जब किसी कृति के रूप-शिल्प की परीक्षा उस विचार-व
अभिन्न समझकर की जाय, जिसकी वह अभिव्यक्ति है, और विचार
को वास्तविकता की कसौटी पर परखा जाय। यह खतरनाक मार्ग है, क
तब सत्य, शिव और सुन्दर के सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की
सकती। इसके अलावा, तब होमर, यूरीपिडीज, दांते, सरवान्ते, शेक्स
गेटे, बालजाक, पुश्किन, तॉलस्तॉय, चेखव, इब्सन, रोम्यां रोलां,
शा, गोर्की—पाश्चात्य साहित्य के इन महान निर्माताओं को यह क
अविचारणीय नहीं घोषित किया जा सकेगा, कि उन्होंने 'शुद्ध' सा
की रचना नहीं की, क्योंकि विभिन्न प्रवृत्तियों के लेखक होने के का
उन्होंने मनुष्य को 'संभावना' की दृष्टि से चित्रित किया है, अर्थात् उ
आदर्शीकरण किया है, जो इस नयी 'आलोचना' की दृष्टि में सर्व
असत्य है। उसके अनुसार मनुष्य का सत्य उसका व्यक्ति-वैशि
जो उसके सामाजिक व्यक्तित्व से भिन्न है। सामाजिक व्यक्तित्व अस
होता है, क्योंकि वह ऊपर से आरोपित है, वह मनुष्य का नकली और मु
चेहरा है। मनुष्य का असली व्यक्तित्व केवल आत्मवादी ही हो सक
है, घोर स्वार्थी, क्षुद्र, आत्मरत, अतः विशिष्ट!

: ८ :

प्रगतिवाद : समाजवादी यथार्थवाद

पाश्चात्य साहित्य में सारवान वस्तु (कन्टेन्ट) का बहिष्कार, लेखक के वास्तव-बोध की विकृति, पात्रों के व्यक्तित्व का स्खलन और अ-सामाजिक अनैतिक, कुंठाग्रस्त और मानवद्रोही व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा—और इन बातों के परिणामस्वरूप अनिवार्यतः साहित्य के रूप-तत्त्व (फार्म) का भी विघटन—'सत्य' का यह सिर्फ एक पहलू ही है। साहित्य की इन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को ही एकान्ततः 'आधुनिक' और 'नयी' कहकर चाहे जितना प्रचारित किया जाता हो, लेकिन ये प्रवृत्तियां समग्र रूप से आधुनिक पाश्चात्य साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे अगर समग्र रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं तो केवल विघटनशील पूंजीवादी व्यवस्था के उस मानवद्रोही विश्व-बोध का, जो युग-परिवर्तन की इस संक्रान्ति-वेला में, अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए, जन-समुदाय की प्रगतिशील आकांक्षाओं, मानववादी जीवन-मूल्यों और समाजवादी लक्ष्यों का उत्तरोत्तर विरोधी बनता गया है। केवल रूपगत विश्लेषण के आधार पर पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को इन मानवद्रोही परिणतियों के ऐतिहासिक कारणों को समझ सकना असम्भव है। लेकिन पाश्चात्य जगत में केवल पूंजीपति और साम्राज्यवादी ही नहीं रहते, और उनका विश्व-बोध ही वहां के जीवन-वास्तव का सच्चा प्रतिनिधि नहीं है, यानी 'सत्य' का एक दूसरा पहलू भी है, उस 'सत्य' का जो उभर रहा है। साहित्य और कला का दीर्घ इतिहास इस बात का साक्षी है कि पिछले युगों में भी प्रतिभाशाली और सत्यान्वेषी लेखकों ने कभी सत्तारूढ़ शोषक-वर्ग के विश्व-बोध को अकर्त्य-भाव से स्वीकार नहीं किया—कम-से-कम उन संक्रान्ति युगों में तो नहीं ही जब सत्ताधारी वर्ग अपनी ऐतिहासिक उपयोगिता खोकर मानव-प्रगति का बाधक बन गया हो। इसके अतिरिक्त साहित्य में समग्र जीवन को प्रतिबिम्बित करने का मतलब ही यह है कि उसमें वास्तविकता के दोनों

पहलू—वे नैतिक और दार्शनिक मान्यताएं, मानव-संबंध और रीति-रिवा जो मरणशील समाज-शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं और वे मान्यता आकांक्षाएं, जीवन-मूल्य और लक्ष्य, जो समाज की विकासोन्मुखी शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं—सचाई के साथ और मूर्त कलात्मक ढंग से प्रति बिम्बित हों। हर युग और देश के साहित्य की स्थायी और जीवन्त परम्पर इसका प्रमाण है। बीसवीं शती का पाश्चात्य साहित्य भी इसका अपवा नहीं हो सकता था, विशेषकर इसलिए कि युद्ध या शान्ति, पूंजीवाद य समाजवाद, औपनिवेशिक गुलामी या राष्ट्रीय आजादी, अबुद्धिवाद य विज्ञान—यानी ह्रास और विकास, झूठ और सच का प्रतिनिधित्व करनेवाली इन ऐतिहासिक शक्तियों का संघर्ष इस शताब्दी के आरंभ से ही आधुनिक युग की केन्द्रीय समस्या बन गया था, और कोई जागरूक लेखक इस 'सत्य' की उपेक्षा नहीं कर सकता था। तॉलस्तॉय, चेखव की यथार्थवादी परम्परा तो थी ही, किन्तु जब पहले महायुद्ध के बाद रूस में समाजवादी क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमजीवी जनता ने इतिहास मे पहली बार एक नयी मानववादी संस्कृति और शोषण-मुक्त समाज-व्यवस्था का निर्माण शुरू किया तो विश्व के प्रबुद्ध और मानववादी लेखकों पर इस घटना का अत्यन्त प्रेरणादायी प्रभाव पड़ा। बीसवीं शती के इस उभरते हुए 'युग-सत्य' से संत्रस्त और आक्रान्त होनेवाले घोर व्यक्तिवादी लेखकों की संख्या कभी अधिक नहीं रही, इसके विपरीत वस्तु-निष्ठ और सत्यान्वेषी लेखक आरंभ से ही इस नयी वास्तविकता का स्वागत करते आये हैं। हमारे देश में जिस तरह कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ, इकबाल, भारती, शरत्, वल्लाथोल, प्रेमचंद, नजरुल्इस्लाम, पंत और निराला ने इस नये 'सत्य' का स्वागत किया और उनसे प्रेरणा लेकर प्रगतिशील, यथार्थवादी लेखकों की एक सशक्त पीढ़ी सभी भारतीय भाषाओं में पैदा हो गई, उसी तरह पाश्चात्य पूंजीवादी जगत में भी रोम्यां रोलां, टामस मान, बर्नर्ड शॉ, थ्योडोर ड्रीजर, रिमार्क, एन्डरसन नीक्सो, हेनरी बारबूज, अर्न्स्ट टोलर, ब्रेख्त, पाब्लो नरूदा, हेमिग्वे, अप्टन सिन्क्लेयर, स्टीफ़न ज्वाइग, आर्नल्ड ज्वाइग, गार्सिया लोर्का, लुई अरांगा, नाजिम

हिकमत, सीयन ओ' केसी-जैसे विश्व-वन्द्य कवि, उपन्यासकार और नाटककारों ने इस नये 'सत्य' का स्वागत किया और उन्होंने अपनी रचनाओं में युग-वास्तव का सर्वांगीण और गत्यात्मक चित्रण किया। सन् १९३० के आसपास पाश्चात्य साहित्य में मार्क्सीय दृष्टिकोण से प्रभावित 'प्रगतिवाद' की विचारधारा का उत्थान हुआ और इन महान लेखकों में से भी अनेक ने इस विचारधारा को सहर्ष अपनाकर अपने गंभीर मानववाद और सत्य-निष्ठा का परिचय दिया। स्मरण रहे कि बीसवीं शती के पाश्चात्य साहित्य में जो भी स्थायी मूल्य का और महनीय है, वह इन यथार्थवादी लेखकों की ही देन है, न कि इज़रा पाउण्ड, टी० एस० ईलियट, काफ़्का, फ़ाकनर, अल्डूस हक्सले, स्पेन्डर, आर्वेल और क्वेसलर की कृतियां, जो एक छोटे-से और मानव-प्रगति-विरोधी वर्ग के विकृत विश्व-बोध का प्रतिनिधित्व करती हैं, और धुआंधार प्रचार के बावजूद केवल एक छोटे-से समानधर्मा पाठक-वर्ग को ही रुचिकर लगती हैं। पाश्चात्य साहित्य की इन दोनों परस्पर-विरोधी धाराओं के बारे में भारतीय पाठकों को भलीभांति परिचित होना चाहिए।

यथार्थवादी परम्परा के जिन श्रेष्ठ आधुनिक लेखकों का हमने उल्लेख किया है, उनकी रचना-शैलियां एक-दूसरे से काफ़ी भिन्न हैं और उनके दार्शनिक दृष्टिकोण भी उतने ही भिन्न हैं। लेकिन उनका मानववाद और उनकी सत्यनिष्ठा ने उन्हें जीवन-वास्तव का वैविध्यपूर्ण, अंतरंग, मूर्त और यथार्थवादी चित्रण करने के लिए समान रूप से प्रेरित किया, जिससे उनकी कृतियों में हम बीसवीं शती के पाश्चात्य जीवन के संपूर्ण आत्म-वेदन और संघर्ष, वैषम्य और खोखलेपन की झांकी पा सकते हैं। इन यथार्थवादी और प्रगतिशील लेखकों के साथ ही सोवियत यूनियन तथा अन्य समाजवादी देशों के उन अगस्य श्रेष्ठ लेखकों—मैक्सिम गोर्की, मायाकोव्स्की, अलेक्सी तॉलस्तॉय, शोलोखोव, ग्लैद्कोव, इलिया एह्रनबर्ग, फेदीव, फेदिन, तिखोनोव आदि—की भी गणना करनी चाहिए, जिन्होंने केवल पाश्चात्य साहित्य को ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य को भी नये समाजवादी मानव

के दुर्दमनीय साहस, शौर्य, निर्माण-क्षमता, न्याय-समता-शान्ति-प्रेम [illegible]
आकांक्षाओं से परिचित कराया है। मैक्सिम गोर्की ने इस नये मानव
'सत्य', उसके विश्व-बोध, ऐतिहासिक कार्य और संघर्ष का कलात्
उत्पादन करनेवाली साहित्य-प्रवृत्ति को 'समाजवादी यथार्थवाद' के न[illegible]
से अभिहित किया था।

तात्त्विक दृष्टि से देखें तो यथार्थवाद, प्रगतिवाद और समाजवा[दी]
यथार्थवाद की प्रवृत्तियाँ सजातीय हैं। तीनों ही जीवन-वास्तव के संपू[र्ण]
मूर्त, कलात्मक प्रतिबिम्बन को साहित्य का लक्ष्य मानती हैं, और उन[के]
[illegible] वास्तविकता का सत्य ही कला की अन्तिम कसौटी है। लेखक [का]
विश्व-बोध ही इन प्रवृत्तियों के आन्तरिक भेद का मूलाधार है। इस[का]
आधार देश-काल-व्यवस्था-जन्य है। इसी लिए सोवियत लेखकों [के]
'समाजवादी यथार्थवाद' से भेद करने के लिए बालज़ाक-तॉलस्तॉय-ठेक[ऱे]
की परम्परा के पाश्चात्य लेखकों के 'यथार्थवाद' को 'आलोचनात्मक'
(क्रिटीकल) यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। तत्त्वतः 'यथार्थवाद'
मूलतः 'आलोचनात्मक' ही होता है, क्योंकि बेलिन्स्की के शब्दों में साहि[त्य]
'आकांक्षा की दृष्टि से' जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करता है, या जैसा
मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है, "साहित्य जीवन की आलोचना है।" इसलि[ए]
[illegible] यथार्थवाद भी मूलतः 'आलोचनात्मक' ही है। लेकिन पूँजीवादी
[illegible] और समाजवादी जगत की वास्तविकताएं एक-जैसी नहीं हैं। पूँजी-
[illegible] के यथार्थवादी लेखकों में से कुछ का विश्व-बोध पुरानी [illegible]
[illegible] धार्मिक मान्यताओं, रूढ़िगत संस्कारों और विषम समाज-[illegible]
[illegible] है [illegible] सहज मानवतावाद और सत्य-निष्ठा के कारण
[illegible] (अन्य सामान्य व्यक्तियों की ही तरह) उनके
[illegible] से तादात्म्य का अनुभव नहीं करता, [illegible]
[illegible] की [illegible] को अपनी रचनाओं में [illegible]
[illegible] यथार्थवाद [illegible] मानव-जीवन पर [illegible]
[illegible] की करुणा और विद्रूपता का [illegible]

द्घाटन करने के लिए विवश कर देता है। इसी लिए 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की कृतियों के नायक अक्सर ऐसे सरल, ईमानदार, किन्तु अभागे और अभिशप्त व्यक्ति होते हैं—*सामान्य, निरीह मानवता के प्रतिनिधि*—जिन्हें नियति (पूँजीवादी समाज-संबंध) हर क़दम पर धोखा देती है। किन्तु पाश्चात्य जगत में श्रेष्ठ लेखकों की एक बड़ी संख्या ऐसी भी है जिनका विश्व-बोध द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) के दृष्टिकोण से प्रभावित है। उन्हें 'प्रगतिवादी' पुकारा जाता है, क्योंकि उनकी रचनाओं के पात्र युग-संघर्ष के प्रति अधिक जागरूक और सचेतन होते हैं, और नियति से उनका संघर्ष सोद्देश्य होता है, अर्थात् वर्तमान समाज-व्यवस्था को बदलने के निमित्त। या कम-से-कम उनके पात्र अपनी जीवन-यात्रा के विषम अनुभवों से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मानव-सबंधों में आमूल परिवर्तन लाये बिना, शोषण, दारिद्र्य, उत्पीड़न और गुलामी से मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

सोवियत यूनियन तथा अन्य समाजवादी देशों के लेखकों और पाश्चात्य जगत के प्रगतिवादी लेखकों का विश्व-बोध तो समान है, अर्थात दोनों ही मानव-इतिहास की विकास-धारा को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखते-समझते हैं, लेकिन समाजवादी समाज में, जहां वर्ग-शोषण का अन्त हो चुका है और विकास की सुविधाएं सबको समान रूप से प्राप्त हैं, एक वस्तुदर्शी और सत्यनिष्ठ लेखक का सवेदनशील मन (वहां के अन्य सामान्य व्यक्तियों की ही तरह) उसके मानववादी नैतिक-मूल्यों और समाज-संबंधों के साथ पूर्ण हार्दिक तादात्म्य का अनुभव करता है। अतः जब वह समाजवादी वास्तविकता को अपनी रचना में रूपायित करता है तब उसका यथार्थवाद जहां एक ओर उसे पुरानी वर्ग-नैतिकता के मिटते हुए अवशेष-चिह्नों को निरावरण करने के लिए विवश कर देता है, वहां मानव-संबंधों में जो नया 'सत्य' उभर रहा है, जो चतुर्मुखी भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक निर्माण और विकास हो रहा है, उसका कलात्मक रूपाकन करने के लिए भी विवश कर देता है। इसी लिए 'समाजवादी यथार्थवाद' की

कृतियों के नायक उत्पीड़ित और अभिशप्त व्यक्ति नहीं होते, बल्कि नये जीवन के निर्माता और श्रम के 'हीरो' होते हैं। विश्व-साहित्य में आशावाद मानव-सहयोग और सौहार्द्र का यह नया स्वर है, किन्तु पुराना भी है। मानव-प्रकृति मूलतः एक है—समाजवादी यथार्थवाद प्राचीन सौन्दर्य-दृष्टि की इस मूलभूत मान्यता की पुष्टि ही करता है, खंडन नहीं। मनुष्य स्वभावतः इयागो, गॉब्सेक और जूडास गोलोव्लियोव की तरह हिंस्र, ईर्ष्यालु, स्वार्थी, आत्मपरक और अ-सामाजिक प्राणी नहीं है, केवल वर्ग-समाज की विषम परिस्थितियां ही उसे ऐसा बनाती हैं। ऐसे पात्र वस्तुतः इस वर्ग-विषमता के ही प्रतीक हैं, न कि सामान्य मानव के। इसी लिए प्राचीन साहित्य के वे सभी पात्र जो अपने जीवन की विपरीत परिस्थितियों के बावजूद अपनी मानवता से स्खलित नहीं हुए—जीन वाल्जीन, हेमलेट, डियां क्रिस्तोफ़, पियर या डाक्टर स्टॉकमैन—हर पाठक के मन में मानवीय भावनाओं का उद्रेक करते हैं, प्रिय लगते हैं और बुरे से बुरा व्यक्ति भी उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करना चाहता है, अर्थात अपने 'स्व' की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर उदात्त मानव बनने का आकांक्षी है। 'समाजवादी यथार्थवाद' की कृतियों से स्पष्ट है कि समानता और सहयोग के वातावरण में हर व्यक्ति के भीतर का मानव अपनी पूरी क्षमताओं का विकास करते हुए निर्माण और सृजन के ऐसे साहसपूर्ण कार्य करने में ही अपने जीवन की सार्थकता देखने लगता है, जो प्राचीन युगों में अपवाद होने के कारण व्यक्ति को देवता और पैग़म्बर बना देते थे। किन्तु जो पहले अपवाद था, वह अब मुक्त-जीवन का साधारण व्यापार बनता जा रहा है। कल्पना वास्तविकता का रूप ले रही है। प्राचीन महाकाव्यों के वीर और उदात्त नायक अ-सामान्य होने के कारण केवल राजा और योद्धा ही हो सकते थे। लेकिन सोवियत समाज में हर व्यक्ति को अ-सामान्य और विशिष्ट बनने की पूरी सुविधा दी जाती है—इसी लिए इंजीनियर, ट्रैक्टर ड्राइवर, कपास बीननेवाले, नहर खोदनेवाले, कारखाने बनानेवाले, नयी ईजादें करनेवाले साधारण किन्तु अपनी उपलब्धियों के कारण विशिष्ट और अ-सामान्य व्यक्ति ही 'समाज-

वादी यथार्थवाद' की रचनाओं के हीरो हैं और बाह्य-प्रकृति और मनुष्य की परम्परागत संकीर्णताओं से संघर्ष करते हुए एक नये मनुष्य और समाज का निर्माण ही इन जीवन-गाथाओं का केन्द्रीय विषय होता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' के दृष्टिकोण का निरूपण करनेवाली आलोचना इन पात्रों की बौद्धिक और भावनात्मक रूप-गठन का विश्लेषण करते हुए नये सत्य की कसौटी पर उनका मूल्यांकन करती है।

पाश्चात्य आलोचना के इस संक्षिप्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यथार्थवाद—प्रगतिवाद—समाजवादी यथार्थवाद, ये ही विश्व-साहित्य और आलोचना की अधुनातन प्रवृत्तियां हैं, क्योंकि वे प्राचीन सिद्धान्तों के सभी सार्वजनीन और सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों (ईस्थेटिक लॉज) का अपने अन्दर समाहार करके साहित्य और आलोचना को भावी प्रगति का दिशा-निर्देश करती हैं। मात्र रूपवादी साहित्य या आलोचना, जैसा कि इस ऐतिहासिक विवरण से भी स्पष्ट है, एक अस्थायी और सामयिक विकृति है। शीत-युद्ध के दुष्प्रभाव के कारण निष्पक्ष और यथार्थवादी पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि भी एक सीमा तक संकीर्ण हो गयी है और वे इस ऐतिहासिक सत्य को पूरी तरह नहीं देख पाते, यद्यपि मात्र रूपवादी प्रवृत्तियों के अ-सामाजिक और मानवद्रोही दृष्टिकोण से वे भी कम खिन्न नहीं हैं। फिर भी कॉडवेल, रैल्फ फ़ाक्स, ज्यार्ज लूकाक्स, फिन्केल्स्टीन और लुई हैरप-जैसे अनेक प्रतिभाशाली आलोचक पाश्चात्य जगत ने पैदा किये हैं, जिन्होंने गंभीर तात्त्विक और ऐतिहासिक दृष्टि से यथार्थवादी परम्परा की इन सभी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन और निरूपण करके मूल्यांकन के नये प्रतिमान स्थिर किए हैं।

पाश्चात्य साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में मात्र रूपवादी और यथार्थवादी प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों का संघर्ष ही आधुनिक युग का केन्द्रीय प्रश्न है और जब से यह प्रश्न शीत-युद्ध का अंग बना है, तब से ये प्रवृत्तियां और भी खुलकर नये और पुराने, सत्य और असत्य के युग-व्यापी ऐतिहासिक संघर्ष को प्रतिबिम्बित करने लगी हैं। पाश्चात्य साहित्य और आलोचना की सम्प्रति यही अवस्था है और उसे इस रूप में ही समझना चाहिए।

तृतीय खण्ड

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या

मूल्यांकन की समस्या

'साहित्य क्या है?' और 'साहित्य की विभिन्न कृतियों में से कौन श्रेष्ठ है, कौन कम श्रेष्ठ, कौन स्थायी मूल्य की है और कौन अस्थायी मूल्य की?'—आलोचना के सामने ये दो प्रश्न ही मुख्य होते हैं। पहले प्रश्न का संबंध साहित्य के स्वरूप, प्रयोजन, सारपूर्ण विचार-वस्तु को कलात्मक अभिव्यक्ति देनेवाली रचना-प्रक्रिया या प्रेषण के विभिन्न माध्यमों और रूपों की विशिष्टताओं का निर्धारण करने से है, अतः यह प्रश्न मूलतः दार्शनिक है। दूसरे प्रश्न का संबंध साहित्य की विशिष्ट कृतियों या प्रवृत्तियों की विचार-वस्तु और रूप-सौन्दर्य के विवेचन, मूल्यांकन और भावन से है, अतः यह मूलतः व्यावहारिक आलोचना का प्रश्न है। पहले प्रश्न के बारे में भरत-मुनि और प्लैटो से लेकर भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने अपने अपने दृष्टिकोण और साहित्य-ज्ञान के आधार पर कौन और कैसी तात्विक स्थापनाएं की हैं, इसका विवरण हम दे चुके हैं। अब हम संक्षेप में मूल्यांकन की समस्या प्रस्तुत करेंगे।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के विवरण से इतना तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं और उनके बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खींचना व्यर्थ है। साहित्य के सिद्धान्तों का निर्धारण साहित्यिक कृतियों के विवेचन, वर्गीकरण और मूल्यांकन के आधार पर ही संभव है और इस प्रकार वे अन्ततः व्यावहारिक आलोचना की समस्याओं पर भी प्रकाश डालते हैं। व्यावहारिक आलोचना विशिष्ट कृतियों का मूल्यांकन करते समय उनमें व्यक्त अनुभव की गहराई, सचाई और व्यापकता को जाव-परख जीवन-वास्तव की अपेक्षा में रख कर ही कर सकती है और इस प्रकार वह आलोच्य कृतियों की विशिष्टताओं पर

ही प्रकाश नही डालती बल्कि प्रसंगवश साहित्य की रचनात्मक प्र
उसके स्वरूप और प्रयोजन पर भी प्रकाश डालती है।

आलोचना कितने प्रकार की होती है, इस संबंध में हमारे शास
आलोचक वर्गीकरण की एक लम्बी फेहरिस्त तैयार करते आये हैं। वर्गी
के हम विरोधी नही हैं—अपने नाना रूपात्मक अनुभव का वर्गीकरण
के ही मनुष्य अपने चिन्तन और ज्ञान में व्यवस्था और तारतम्य पैदा
सका है—लेकिन जब वर्गीकरण का आधार कोई मौलिक भेद न हो
जब विभिन्न वर्गों को एक प्रकार से आत्यन्तिक मान लिया जाय, तब
प्रवृत्ति से कोई वैज्ञानिक चिन्तक सहानुभूति नही कर सकता। उदाह
के लिए हमारे शास्त्रीय आलोचक अपनी पुस्तकों में (१) निर्णया
आलोचना, (२) व्याख्यात्मक आलोचना, (३) ऐतिहासिक आलोच
(४) मनोवैज्ञानिक आलोचना, (५) प्रभावात्मक आलोचना, (
तुलनात्मक आलोचना आदि अनेक प्रकार की आलोचनाओं के 'नमूने'
किया करते हैं। लेकिन व्यावहारिक आलोचना के विभिन्न प्रकारों का
वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। साहित्य-कृति की हर गंभीर आलोचना अन्त
निर्णयात्मक होती है, अर्थात् उसके बारे में आलोचक अपना निर्णय व्यक्त
करता है—निर्णय अक्सर अन्य कृतियों से तुलना, उसमें व्यक्त अनुभव
मनोवैज्ञानिक और व्याख्यात्मक विवेचन और उसकी ऐतिहासिक-सामाजि
पृष्ठभूमि का निदर्शन करते हुए किया जाता है। इस प्रकार यह वर्गीकरण
मौलिक नही है और मात्र सुविधा की खातिर भी हमें ऐसा कृत्रिम वर्गीकरण
उपयोगी नही लगता। साहित्य के विद्यार्थियों को इससे साहित्यालोचन की
मुख्य समस्या की जानकारी प्राप्त करने में कोई लाभ नही होता। हमने
साहित्य के आलोचना-सिद्धान्तों को दो व्यापक—रूपवादी और यथार्थ-
वादी—वर्गों में बांटा है। हमारे विचार में व्यावहारिक आलोचना पर भी
यह वर्गीकरण लागू होता है। साहित्य की प्रवृत्तियों के आधार पर हम
, प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी या यथा-तथ्यवादी, समाज-
ऐतिहासिक, प्रगतिवादी आदि आलोचना की विभिन्न पद्धतियों का

भेद कर सकते हैं, लेकिन ये किसी कृति के अर्थ या रूप-सौन्दर्य के अलग-अलग तत्वों का विवेचन और मूल्यांकन करने की विशिष्ट प्रणाली मात्र हैं, मौलिक वर्ग नहीं हैं, और आलोचना की रूपवादी या यथार्थवादी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत ही आती हैं।

व्यावहारिक आलोचना की मुख्य समस्या मूल्यांकन है। आलोचक चाहे जिस दृष्टि से साहित्य का विवेचन करे—लेखक की जीवनी का अध्ययन करके उसकी कृति में उन घटनाओं और पात्रों की छाया देखे जो उसके जीवन में घटित हुई हैं और जिनके निकट संपर्क में वह आया है, या उसकी कृति में व्यक्त विचारों को जाँच कर लेखक के दृष्टिकोण और विश्व-बोध को समझने की चेष्टा करे, या उस कृति में व्यक्त सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि का उद्घाटन करे या पात्रों, घटनाओं, कार्यों और मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के रूप में ताने-बाने की तरह अन्तर्गुम्फित जीवन-वास्तव के चित्र की सजीवता, सचाई और व्यापकता को परखे, या केवल नाद-सौन्दर्य, उक्ति-चमत्कार, शिल्प-विधान, शब्द-योजना, शैली आदि अभिव्यक्ति के माध्यमों और साधनों का विश्लेषण और अध्ययन करे, वह अन्ततः उसका मूल्यांकन करने में ही योग देता है। किन्तु इधर कुछ दिनों से पाश्चात्य आलोचना की रूपवादी प्रवृत्तियां, जिन्हें 'नई आलोचना' का नाम दिया जाता है, साहित्य की कृतियों के मूल्यांकन को अनावश्यक ही नहीं, साहित्येतर क्रिया घोषित करने लगी हैं। 'नई आलोचना' के अनुसार साहित्य की हर कृति को अपने-आपमें संपूर्ण, स्वचालित यन्त्र के रूप में देखना चाहिए। उसकी खूबियां उसके ढांचे की आन्तरिक गठन का विश्लेषण कर के ही देखी जा सकती हैं। जीवन के सन्दर्भ में कृति की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करना साहित्येतर मानदंडों का आरोपण होगा। ढांचे की आन्तरिक गठन और संगति के विश्लेषण तक ही आलोचना को सीमित कर देना, इस नये रीतिवाद का सब से अधिक प्रचारित नारा है, जिसमें रचना के अर्थ की पूर्ण उपेक्षा की जाती है। इस तरह की विश्लेषणात्मक आलोचना के बारे में एक आलोचक (पॉल गुडमैन) ने कहा है कि

यह स्नान करती हुई सुन्दरियों की मुत्रमुग्नी को एक्स-रे फोटोग्राफ में
की कोशिश करने के बराबर है। रचना के आन्तरिक ढांचे की संगति
गठन का विश्लेषण करने के लिए 'नई आलोचना' अब एक विचित्र, अ
दुरूह, टेकनिकल, अमूर्त और अप्रचलित शब्दावली का प्रयोग करने लगी
यद्यपि यह शब्दावली 'नई आलोचना' में काफ़ी रूढ़ हो गयी है, लेकिन
भी इतनी सांकेतिक है कि उसका अर्थ केवल समानधर्मा आलोचक
समझते हैं। जिस तरह पाश्चात्य साहित्य की नई कुंठावादी और मानव
प्रवृत्तियों के लेखक 'प्रेषणीयता' और 'अर्थगम्यता' को अनावश्यक स
लगे हैं, उसी तरह उनके समानधर्मा नये आलोचक भी व्यावहारिक आलो
को मात्र ontological analysis (शुद्ध निजत्व का विश्लेषण) बनाने
तुले हुए हैं।[1] यह 'नई आलोचना' मूलतः आतंकवादी है—किसी रचना
समग्र सौन्दर्य (जो विचार-वस्तु और रूप की अभिन्नता का परि

---

१. अपने 'आलोचना के मान' शीर्षक लेख में मैंने इस नई प्र
का विवेचन करते हुए लिखा था कि व्यावहारिक आलोचना की यह
विचारधारा पाठकों की "दृष्टि को और भी संकुचित करके केवल एक
पत्ती तक ही सीमित कर देना चाहती है। क्योंकि हर पत्ती विशिष्ट
इसलिए उसकी नसों के जाल में आन्तरिक संगति और हरे-पीले आव
के साथ उसके आन्तरिक सामंजस्य का विश्लेषण करना ही आलोचक
कर्त्तव्य बताया जा रहा है। साहित्य के मूल्यांकन की समस्या त्याग
पाश्चात्य आलोचना अब कविता और अन्य प्रकार की रचनाओं
ontological analysis के रीतिवादी मार्गों पर भटक गयी
ontological analysis रीतिवाद का नवीनतम रूप है, जिस
अर्थ है कि कविता या कोई रचना किसी अनुभव को प्रेषित करती है या नह
या वह अनुभव किस कोटि का है, आदि बाह्य-स्तर की बातों की जां
करना अनावश्यक है, क्योंकि कोई रचना कविता या कहानी है तो उस
'कविता' या 'कहानी' होना ही अपना अन्तिम लक्ष्य है और उसके 'शु

होता है) का उद्घाटन करने, पाठक की चेतना को समृद्ध बनाने या उसकी संवेदनशीलता को अधिक गहरा और मानवीय बनाने में योग न देकर अपनी दुरूह, अमूर्त और अनगढ़ शब्दावली से केवल आतंकित-भर करना चाहती है, और एक भयंकर प्रकार की अबौद्धिकता और 'कूपमण्डूकता' को प्रोत्साहन दे रही है, क्योंकि तथाकथित नये आलोचक लगातार यह दावा करते रहते हैं कि आलोचक तो सिर्फ वे ही हैं, और उनकी आलोचना ही साहित्य की वास्तविक आलोचना है, और जिस 'नये साहित्य' की कृतियों को उन्होंने अपनी आलोचना का विषय बना रखा है, शुद्ध-साहित्य की कोटि में सिर्फ वे ही आती हैं। बाकी आलोचक केवल समाजशास्त्रीय विद्वान हैं और बाकी लेखक कहानी-कविता-उपन्यास के रूप में समाजशास्त्रीय, दार्शनिक या राजनीतिक विचारों को भरती करनेवाले मात्र प्रोपैगैण्डिस्ट हैं, इसलिए उनकी कृतियां न तो आलोच्य हैं, न विचारणीय। तात्पर्य यह कि 'नई आलोचना' के निकट तॉलस्तॉय, गोर्की या शेक्सपियर का भी कोई मूल्य नहीं है और न वे विचारणीय लेखक ही हैं। इसका एक कारण है, वह यह कि जिस 'नये साहित्य' की यह 'नई आलोचना' है, उसकी यह स्पष्ट मान्यता है कि लेखक एक आत्यन्तिक रूप से विशिष्ट प्राणी है, उसकी अनुभूति भी इतनी

निजत्व' की परीक्षा उसके विविध अंगों-उपकरणों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण द्वारा ही संभव है। इस प्रकार आप 'अज्ञेय' की कविता—

अल्ला रे अल्ला

होता न मनुष्य मैं, होता करमकल्ला।

या 'नई कविता' के नाम पर लिखी जानेवाली एक-एक 'कविता' कविता की ontological analysis में यदि दस-दस बीस-बीस पृष्ठ रंग सकें तो आपको आधुनिक युग का 'नया आलोचक' मान लिया जायगा। इस प्रकार नये साहित्य-सिद्धान्तों के अनुसार यदि साहित्य का कोई सामाजिक प्रयोजन नहीं रहा तो आलोचना का भी कैसे रह सकता है?" (द० निबंध-संग्रह, २७ पृष्ठ)

विशिष्ट होती है कि उसका प्रेषण संभव नहीं है और अगर है भी तो
समानधर्मा वर्ग में ही। ऐसा विशिष्ट लेखक अन्ततः समाज-द्रोही ही
और समाज से द्रोह कर के ही अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा कर सकत
लेकिन शेक्सपियर, तॉल्स्तॉय, गोर्की या विश्व के अन्य सभी प्राचीन
आधुनिक युग-द्रष्टा साहित्यकार, यद्यपि अपने तत्कालीन समाज
विषमताओं, अनैतिकता और क्षुद्रताओं के निर्मम आलोचक और म
की स्वतन्त्रता के समर्थक रहे हैं, लेकिन इनकी आलोचना ने कभी
स्वतंत्रता के अनिवार्य सामाजिक आधार को नकारने का रूप नहीं लि
मनुष्य सामाजिक विषमताओं के कारण पीड़ित, संत्रस्त और परवश
इसलिए इन विषमताओं को (समाज को नहीं) मिटाकर ही वह सु
समृद्ध और स्वतंत्र हो सकता है—स्वतंत्रता समाज में ही सिद्ध हो सकती
यह वास्तव-बोध इन सभी लेखकों में मिलता है। तथाकथित नया पाश्च
साहित्य और नई आलोचना इस वास्तव-बोध को ही ग़लत मानती
इसलिए शेक्सपियर या तॉल्स्तॉय उसके निकट आलोच्य नहीं हैं। उन
रचनाओं में अर्थ (मानव-संबंधों की गंभीर व्यंजना) का जो सागर लहरा
है ontological analysis उसकी थपेड़ों से अपने दामन को अछू
कैसे रख सकेगी? कुंठा, अनास्था, मानवद्रोह की भावनाएं ही इस आलोच
का खाद्य हैं। रचना में यदि इनकी विवृति मिलती है, तो उस रचना
'शुद्ध निजत्व' का विश्लेषण करने की बात भूलकर 'नई आलोचना' ऐ
निवेदनों को 'मानव-सत्य' की अभिव्यक्ति के अनुपम नमूने घोषित करती हु
अक्सर 'मूल्यांकन' के स्वतः वर्जित प्रदेश में घुस आती है, लेकिन यदि रचन
में व्यक्त अनुभव और भावनाएं मानवीय और प्रगतिशील हों (*सत्य औ
शिव*), तो उसका दम घुटने लगता है और वह अपनी नाक पर रूमाल रख
कर, उससे बचती-कतराती निकल जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि
'नई आलोचना' मूल्यांकन के प्रश्न से जानबूझकर कतराती ज़रूर है
लेकिन उसकी दृष्टि में किसी प्रकार का अर्थ या अनुभव मूल्यवान न हो,
ऐसा नहीं कहा जा सकता। मूल्य हमारी भावना-चेतना के अभिन्न अंग होते

है और अपनी भाव-विचार प्रतिक्रिया के रूप में हम निरंतर अन्य वस्तुओं, कार्यों और घटनाओं का मूल्यांकन करते रहते हैं। हमारी भाव-विचार प्रतिक्रियाएं अधिकतर हमारे विश्व-बोध से अज्ञात रूप में संचालित रहती हैं और हमारा व्यक्तिगत विश्व-बोध मूलतः समाज-जीवन का ही हमारे मानस में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है। समाज-जीवन मे चूंकि आन्तरिक असंगतियां हैं, प्रगति और प्रतिक्रिया की परस्पर-विरोधी शक्तियां काम करती रहती हैं, इसलिए किसी भी युग और समाज का विश्व-बोध (नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक मान्यताएं और जीवन-मूल्य) परस्पर-विरोधी धाराओं में बंटा रहता है। अपने संस्कारों, परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के वशीभूत व्यक्ति इनमे से चुनाव करते हैं, जिससे जीवन के प्रति किसी का दृष्टिकोण प्रगतिशील, आस्थावान और मानववादी होता है तो किसी का प्रतिक्रियावादी, और मानवद्रोही। इसलिए जो नितान्त 'वैयक्तिक' भावना या विचार लगता है, वह मूलतः 'सामान्य' (समाज के उस वर्ग के लिए सामान्य की वास्तविकता के प्रति उक्त दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है) भी होता है, उसका 'वैशिष्ट्य' या 'निजत्व' केवल व्यक्ति-विशेष के मानस में पड़े *'सामान्य' के प्रतिबिम्ब की विशेषता-मात्र होती है; केवल शाब्दिक या* विषयीगत अभिव्यक्ति-भेद। किन्तु सामाजिक व्यवहार और कार्यों में परिणत होते समय व्यक्तिगत मूल्यों का यह 'वैशिष्ट्य' देखने में उतना 'विशिष्ट' नहीं रहता, और हम उसके आचरण, व्यवहार और कार्यों से बता सकते हैं कि वह किन बातों को अधिक मूल्यवान मानता है। मिसाल के लिए एक शहीद और एक अवसरवादी की पहचान उनके आचरण से सहज ही की जा सकती है; जब कि अपनी अभिव्यक्तियों में अवसरवादी बड़ी आसानी से अपने असली जीवन-मूल्यों को छिपा सकता है। 'नई पाश्चात्य' आलोचना सम्भवतः यह नहीं चाहती कि नये पाश्चात्य साहित्य का मूल्यांकन किया जाय, क्योंकि किसी भी दृष्टिकोण से रचा गया साहित्य हो, और उसमें समाज-वास्तव की जानबूझकर चाहे जितनी उपेक्षा की गयी हो, अभिव्यक्ति का चाहे जो प्रकार अपनाया गया हो, मानव-संबंधों की

हक़ीक़त उसमें किसी-न-किसी रूप में प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रह स
क्योंकि हर शब्द वाच्य और व्यंग्यार्थ (वस्तु और उसके प्रति वि
भाव) की द्वन्द्वात्मक अन्विति होता है। 'नये' पाश्चात्य साहित्य मे
समाज-वास्तव का एकांगी या विकृत रूपायन किया जाता है, तो इसक
मतलब नहीं कि 'नया साहित्य' समाज-वास्तव-निरपेक्ष कोई सर्वथा
चमत्कार है। इसी तरह आलोचना की कोई भी पद्धति अपने को मूल्
से सर्वथा तटस्थ नहीं कर सकती, क्योंकि यह कहना ही कि रचना में साम
विचार-वस्तु अविचारणीय तत्त्व है, अपने मनोवांछित असामाजिक
का प्रच्छन्न स्वीकरण है। केवल मानव-द्रोही और समाजवाद-विरोधी
नाओं को ही सराहने की प्रवृत्ति दिखाकर उसने मूल्यों से तटस्थता क
झीना आवरण भी अब उतार फेंका है।

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या से कतराने का एक परिणाम यह
निकला है कि नई पाश्चात्य आलोचना अब इस बात को अविचार
समझती है कि किसी रचना का पाठक के मन पर क्या और कैसा प्र
पड़ता है। भरतमुनि के रस-सिद्धान्त और अरस्तू के 'विरेचन' के सिद्धान
समय से हर युग के मनीषी साहित्य-चिन्तक साहित्य के प्रयोजन की
करते समय पाठक के मन पर पड़नेवाले प्रभाव का दार्शनिक और मनो
निक विवेचन करते आये हैं। रस आस्वाद्य होता है या ट्रैजेडी दर्शक के
में त्रास और करुणा की भावनाओं को जागृत कर के उनका विरेचन करती
या साहित्य का उद्देश्य शिक्षा देना या आनन्द प्रदान करना है, आदि साहि
के सभी प्राचीन सिद्धान्तों का आधार किसी-न-किसी रूप में दर्शक अ
पाठक के मन पर पड़नेवाले प्रभाव की प्रक्रिया ही रहा है। लेकिन
आलोचना का कहना है कि आलोचक का कर्तव्य सिर्फ़ यह देखना-दिखा
भर है कि कोई कृति अपने-आपमें, एक विशिष्ट रूप-सृष्टि की दृष्टि से क
है, न कि उसके उन उपकरणों की जाँच-पड़ताल करना, जिनके कारण व
आस्वाद्य होती है या पसन्द की जाती है। यानी साहित्य को पढ़कर
आनन्द लेनेवाले पाठक हैं (आलोचक भी एक पाठक ही होता है) उनक

साक्षी को 'नई आलोचना' अनावश्यक और असगत समझती है। दरअसल इस तरह की जांच-पड़ताल को वह 'affective fallacy' कहकर वर्जनीय ठहराती है। स्मरण रहे कि आधुनिक (पाश्चात्य) सौन्दर्य-शास्त्र (ईस्थेटिक्स) के अनुसार भी चित्र, संगीत या मूर्ति की केवल रूप-गत प्रतीति करने के लिए उसकी अर्थ-व्यंजना (विचार-वस्तु) के प्रति उदासीन, निस्संग और निर्वैयक्तिक और अपनी भाव-विचार प्रतिक्रियाओं से शून्य होकर दर्शक या श्रोता को पूर्णतः एकाग्रमना हो जाना चाहिए—तभी समग्र रूप का साक्षात्कार संभव है। उसके अनुसार रूप का यह साक्षात्कार ही सौन्दर्यानुभूति का चरम साध्य है। प्रश्न उठता है कि नई आलोचना और सौन्दर्य-शास्त्र अपने-आपको शीशे की उस पेटी में बंद रखने की क्यों जरूरत महसूस करते हैं, जिसमें जीवन की वायु या स्पर्श ही न हो सके? कालिदास के शकुन्तला नाटक को देखते समय पाठक अगर नाटकीय ढांचे और काव्यमय शब्दों, और उपमाओं का चमत्कारपूर्ण विन्यास देखने के साथ ही अगर कालिदास के युग को भी देखे, स्वयं कालिदास की मानव-करुणा से ओतप्रोत आत्मा को भी देखे, उन सामाजिक विषमताओं को भी देखे, जिनके कारण शकुन्तला ने दुष्यन्त की (श्रापवश ही सही) तात्कालिक निष्ठुरता के बावजूद उसके लिए इतनी विरह-वेदना झेली, और यदि मानवीय आचरण को देखकर वह गद्गद हो उठता है, कठोर और निष्ठुर आचरण के प्रति उसमें आक्रोश पैदा होता है और मानवीय त्याग, वेदना और उत्पीड़न के प्रति उसकी करुणा और सहानुभूति उमड़ पड़ती है—पूर्ण निर्वैयक्तिक और निस्संग भाव से, क्योंकि ये घटनाएं दुष्यन्त और शकुन्तला के जीवन की हैं, उसके अपने जीवन की नहीं हैं, और संभव है कि उसका प्रेम-जीवन पूर्णतः सुखमय हो और उसमें कभी ऐसे ज्वार-भाटे न आये हों—तो क्या उसकी ये भाव-प्रतिक्रियाएं सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से कृत्रिम, कुटिल और असंगत होंगी? यह प्रश्न उठता है, क्योंकि साहित्य और कला की हर श्रेष्ठ कृति अपने सीमित कलेवर में समग्र जीवन का वैविध्यपूर्ण और मूर्त प्रतिबिम्ब होती है, इसलिए उसमें मानव-संबंधों, कार्यों, भावों, विचारों, नैतिक

मान्यताओं, सामाजिक और व्यक्तिगत संघर्षों और समस्याओं की एक
और सजीव झांकी हमें मिलती है, और इन सब चीज़ों का पाठक के मन
गहरा प्रभाव पड़ता है, उसकी भावनाओं का मानवीय संस्कार और सह
भूतियों का विस्तार होता है और उसका विश्व-बोध अधिक समृद्ध
चेतन बनता है, यानी सत्य-ज्ञान के साथ उसकी सौन्दर्य-भावना का
विकास होता है। साहित्य और कला की कृतियाँ हमारे मन पर ऐसा गं
प्रभाव डालती हैं, इसलिए ही तो साहित्य और कला का हमारे लिए इत
मूल्य है। लेकिन इससे इन्कार कर के 'नई आलोचना' के अनुसार
मानना कि "कलाकृति केवल अपने होने में ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर ले
है और अपना मूल्य प्राप्त कर लेती है, जिससे आलोचक का काम मि
इतना ही रह जाता है कि वह व्याख्यात्मक विश्लेषण द्वारा उसकी 'स्वयं-त
की विधि का उद्‌घाटन और प्रदर्शन करे," प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक डेवि
डेशीज के शब्दों में ontological fallacy के अंधे गर्त में कूद पड़ना है
इस आलोचक का भी कहना है कि साहित्य की रचना मनुष्य एक विशे
ढंग से एक-दूसरे के साथ अनुभव का प्रेषण करने के निमित्त करते हैं। इसलिए
उसके मूल्य का निर्णय भोक्ता, पाठक या दर्शक ही कर सकता है, और वह
भी किसी affective theory के आधार पर ही। साहित्य चूंकि विचार-
विनिमय के अन्य ढंगों से भिन्न है, इसलिए आलोचक को उन साधनों पर तो
विचार करना ही पड़ेगा जिनके कारण यह प्रेषण सिद्ध होता है, अतः वह
इस प्रसंग में अन्य चीजों के साथ रचना की रूपगत आन्तरिक संगति की भी
जांच करेगा। लेकिन रूपगत आन्तरिक संगति ही सब-कुछ नही है, और साधन
और साध्य का भेद विस्मृत नही कर देना चाहिए। साहित्य के अन्य रूप-
प्रकारों में कविता सब से अनोखे ढंग से एक अनोखा प्रेषण करनेवाली चीज
है, लेकिन यह प्रेषण वास्तव में या संभावित रूप में, कितना प्रभावपूर्ण है,
इस पर ही वर्णन के इस अनोखे ढंग का औचित्य निर्भर करता है, न कि अनोखे
ढंग के कारण प्रेषण का औचित्य हो। इसलिए डेविड डेशीज का मत है कि
व्यावहारिक आलोचना वही अच्छी होती है जो पाठक को रचना में प्रति-

बिम्बित वास्तविक जीवन की गहराई और वैविध्य दिखाने में समर्थ हो सकें। कला अनुभव की अभिव्यक्ति है और उसका प्रयोजन ही यह है कि लोग उसमें व्यक्त अनुभव की अनुभूति करें। इसलिए आलोचना का कार्य पाठक की इस अनुभूति को सपूर्ण और गहरा बनाने में योग देना है। उनका कहना है कि अगर साहित्य के विद्यार्थियों को सिर्फ़ इतना ही बताया जाय कि आलोचना का कार्य रचना के ढाचे मे रूपगत आन्तरिक संगति, विरोधाभास, श्लेष और वक्रोक्ति का विश्लेषण करना-भर है तो यह घातक हो सकता है। प्रभावकारी प्रेषण के ये सिर्फ उपकरण हैं और जब तक प्रभावकारी प्रेषण की प्रक्रिया सम्पन्न नही होती तब तक पाठक के भीतर रागोद्रेक नही होता। यदि विद्यार्थी से यह बात छिपाई जाय तो वह केवल पोंगा पंडित ही बन सकता है। इसके अलावा अच्छी कविता तुकान्त भी होती है, अतुकान्त भी, सरल, अटपटे गीतों के रूप में भी और चमत्कारपूर्ण वक्रोक्ति के रूप मे भी। किन्तु सुकान्त और सरल कविता मे ढांचे के विश्लेषण का अधिक उपयोग नही है। ऐसी स्थिति में क्या ऐसी कविता (या यथार्थवादी प्रवृत्ति के महान उपन्यास आदि) को अविचारणीय घोषित कर के नई आलोचना अपना औचित्य सिद्ध कर सकती है? ये सारे प्रश्न उठते हैं, और नई आलोचना के नमूनों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह 'ढाचे की आन्तरिक संगति' के विश्लेषण द्वारा किसी भी कृति का वास्तविक मूल्य बताने में सर्वथा असमर्थ है।

Ontological analysis पर आधारित नई आलोचना को हमने आधुनिक युग का रीतिवाद कहा है। इसका कारण अब स्पष्ट हो गया होगा। हमारे यहां की रीतिकालीन आलोचना भी रूपगत चमत्कारों की ही ऊहापोह में लगी रहती थी, और किसी रचना के व्यापक अर्थों और मन्तव्यों की जाच करने से कतराती थी, जिससे हमारे यहां भी एक थोथे पाण्डित्य-प्रदर्शन की परम्परा चल पड़ी थी। इस दृष्टि से देखें तो पाश्चात्य जगत का यह नया रीतिवाद हमारे लिए सर्वथा नया नही है, यद्यपि हमारे नये प्रयोग-वादी कवि और उनके समानधर्मा आलोचक इस नये पाश्चात्य रीतिवाद की

नकल करके सरल पाठकों पर यह धाक जमाना चाहते हैं कि वे कोई एकदम नई और अभूतपूर्व चीज भारत के बौद्धिक-साहित्यिक जीवन में अवतरित कर रहे हैं। लेकिन यह नई चीज नहीं है, केवल नया लेबल है, यानी नई आलोचना की शब्दावली भर नई है, कुछ अपरिचित-सी, कुछ अनगढ़, भद्दी और भोंडी, कुछ दुरूह और बेहद अमूर्त। कुल सौ-पचास नये शब्द हैं, जिनकी पिटारी में इस तथाकथित नई आलोचना का रीतिवाद बंद है। कोई भी विद्यार्थी दो-चार महीने में इस नये jargon (गुह्य भाषा) को सीखकर बड़ी आसानी से 'नया आलोचक' बन सकता है और नये आलोचकों की जो यकायक एक छोटी-सी फौज पैदा हो गई है, उसमें अधिकतर ऐसे ही आत्म-केन्द्रित विद्यार्थी या नये रंगरूट अध्यापक हैं, जिन्होंने आत्म-प्रदर्शन की खातिर अपनी साहित्यिक चेतना को इस नये शब्द-जाल में फंसा लिया है। साहित्य और जीवन के गंभीर और वास्तविक पहलुओं के प्रति उनकी जिज्ञासाएं इस शब्द-जाल में जकड़बन्द होकर घुटने लगी हैं। इसलिए डेविड डेशीज का यह कहना सर्वथा सत्य है कि विश्लेषणात्मक आलोचना विद्यार्थियों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्यालोचन की मुख्य समस्या 'आन्तरिक संगति का विश्लेषण' नहीं, बल्कि मूल्यांकन है। मूल्यांकन वस्तुतः किसी कृति के संबंध में हमारे निर्णय का अन्तिम भाग होता है। मूल्यांकन से पहले व्यावहारिक आलोचना को यह निर्णय करना होता है कि आलोच्य कृति साहित्य की कोटि में रखी जाने की अधिकारिणी भी है या नहीं। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक के रूप में आये दिन जो सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं, उनमें से कुछ ही साहित्य की कोटि में रखने के योग्य होती हैं, यह सभी जानते हैं। सेक्स और जुर्म और हत्या के प्रसंगों को लेकर हर साल सैकड़ों उपन्यास लिखे जाते हैं, लेकिन साहित्यिक आलोचना की पुस्तकों में आपको उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलेगा, केवल इसलिए ही नहीं कि वे सस्ता मनोरंजन प्रदान करते हैं, बल्कि इसलिए कि उनकी विषय-वस्तु उथली और नगण्य होती है। साथ ही आपने ऐसी रचनाएं भी पढ़ी

होगी, जिनकी विषय-वस्तु अत्यन्त गंभीर और महत्वपूर्ण है, लेकिन जिनको पढ़कर ऊब और विरसता पैदा होती है क्योंकि लेखक मूर्त-चित्रों की भाषा में अपनी विचार-वस्तु को नहीं ढाल सका है, और सारी रचना यान्त्रिक और नीरस हो गई है। ऐसी रचनाओं की भी साहित्यालोचन में चर्चा नहीं की जाती। कारण स्पष्ट है कि आलोचना केवल उन कृतियों की ही होती है, जो साहित्यिक हैं, अर्थात् जिन्हें साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है। प्राचीन युगों में भी ऐसी पुस्तकें लिखी जाती रही होंगी, जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं, लेकिन आज उनका नाम भी नहीं सुनाई देता, अधिक-से-अधिक अनुसंधानकर्त्ता विद्यार्थियों की थीसिसों में ही उनका नामोल्लेख मिलता है। इसलिए प्राचीन काल की जो रचनाएं क्लासिक बन गयी हैं, उनकी 'साहित्यिकता' को जांचने का प्रश्न नहीं उठता। उनका व्यापक मूल्यांकन ही अपेक्षित होता है। लेकिन वर्तमान में जो नित्य नई रचनाएं प्रकाशित होती रहती हैं, उनके बारे में यह प्रारंभिक पड़ताल अत्यन्त जरूरी है। यह निर्णय करने के बाद ही कि आलोच्य-कृति में कुछ महत्वपूर्ण बौद्धिक या भावात्मक वस्तु प्रेषित की गयी है, और यह प्रेषण (अर्थवान शब्दों द्वारा) मूर्त और कलात्मक रीति से सपन्न हुआ है, हम उस कृति का मूल्यांकन कर सकते हैं, यानी यह निर्णय कर सकते हैं कि उसमें प्रेषित की गयी भाव-विचार वस्तु अपेक्षया कितनी महत् और गंभीर है और वह प्रेषण अपेक्षया कला की दृष्टि से कितना समृद्धिशाली और प्रभावकारी है और साहित्य के इतिहास में उस कृति का क्या स्थान हो सकता है। प्राचीन काल से ही सफल कलाकृति में वस्तु और रूप की अभिन्नता या अन्विति का सिद्धान्त मान्य रहा है, जिसका मतलब यह है कि वस्तु के सूक्ष्मतर स्तरों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उतने ही सूक्ष्मतर शिल्प-कौशल, उपयुक्त शब्दों के प्रति आग्रह और बिम्ब-चित्रों की भाषा में मूर्तिकरण की क्षमता लेखक में होनी चाहिए। इसके अलावा अपने अनुभव को प्रेषित करने के लिए लेखक ने जिस माध्यम (कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास) को चुना है, वह उसकी संभावनाओं का भरपूर उपयोग करने में समर्थ हो

सकता है या नहीं. प्रारंभिक निर्णय करते समय यह भी देखना जरूरी है। लेकिन प्रारंभिक निर्णय और मूल्यांकन की दो भिन्न प्रक्रियाएं नहीं हैं। प्रारंभिक निर्णय करते समय भी आलोचक कृति के व्यापक मूल्यों का आकलन करता चलता है। कोई कृति साहित्य की कोटि में अगर आती ही नहीं तो फिर उसके मूल्यांकन का भी प्रश्न नहीं उठता—बुरी चीज को हम बुरा ही कहते हैं, बुरी वस्तुओं की कोटि में उसका स्थान निर्दिष्ट करने के लि नहीं रुकते।

यह ठीक है कि मूल्यांकन करनेवाला आलोचक भी एक व्यक्ति होता है, इसलिए किसी कृति का मूल्यांकन एक प्रकार से व्यक्तिगत निर्ण ही होता है, लेकिन मूल्यांकन व्यक्तिगत होकर भी एक व्यापक मानवी प्रक्रिया का अंग है। विभिन्न मनुष्यों के विचारों और भावों में असंख बुनियादी समानताएं हमें देखने को मिलती हैं, इसलिए यह भी अनुमे है कि उनके निर्णयों और मूल्यांकनों में भी समानता मिल सकती है—दर असल यह अनुमान की बात ही नहीं है। 'ताजमहल' को बुरी कलाकृति कहनेवाले अपवाद ही गिने जायेंगे।

यह भी ठीक है कि विभिन्न युगों में, देश-काल-जाति-धर्म के भेद के कारण विभिन्न लोग विभिन्न वस्तुओं को मूल्यवान समझते आये हैं। रुचि-भेद का यह आधार रहा है। लेकिन रुचि-भेद के बावजूद समग्र मानव-जीवन में व्यापक और सार्वजनीन मूल्यों का पैटर्न उभरता रहा है। वर्ग, समाज, देश और काल के भेद से जीवन-मूल्यों का यह पैटर्न बदलता जरूर है, लेकिन इस परिवर्तन का आधार ऐतिहासिक है, व्यक्तिगत रुचि नहीं। इसी लिए ऐतिहासिक चेतना के सन्दर्भ में हम विभिन्न जीवन-मूल्यों के विकास में एक तारतम्य और संबंध स्थापित कर सकते हैं। जीवन को मुक्त, संपूर्ण और समृद्ध बनाने के लिए मनुष्य जिस तरह विज्ञान से पूर्ण तथ्य-ज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा करता आया है, उसी तरह साहित्य और कला से जीवन को सुखद, सुन्दर और मानवीय बनानेवाले मूल्य प्रदान करने की अपेक्षा करता आया है।

प्राचीन काल से ही दार्शनिक सत्य, शिव और सुन्दर, इन तीन व्यापकतम मानव-मूल्यों की विवेचना करते आये हैं। सामाजिकता, शान्ति और प्रगति आदि मानव-जाति के योग-क्षेम से संबंध रखनेवाले आत्म-रक्षात्मक मूल्य और नैतिकता, प्रेम, सौहार्द, स्वाधीनता, जन-तंत्र और समाजवाद आदि मनुष्य के पारस्परिक-सबंधों का नियमन और उनके आकांक्षित भौतिक और आध्यात्मिक विकास के साधक मूल्य सत्य-शिव-सुन्दर के अन्तर्गत ही आते हैं। सभी मूल्य उभयपक्षीय होते हैं, यानी वे व्यक्ति के निजी जीवन-मूल्य भी होते हैं और समाज के भी। व्यक्ति और समाज के मूल्यों मे संघर्ष तब पैदा होता है जब या तो व्यक्ति सामाजिकता त्यागकर घोर स्वार्थी और आत्म-सीमित हो जाता है, या जब समाज की व्यवस्था व्यापक लोक-मंगल का विचार न करके वर्ग-स्वार्थों का हित-साधन करने के लिए अधिकार-वंचित सर्वसाधारण का उत्पीडन करती है और वर्ग-नैतिकता के बंधन में बांधकर उनकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लेती है। चूंकि पूंजीवाद तक का इतिहास वर्ग-व्यवस्था और वर्ग-शोषण का इतिहास रहा है, इसलिए सत्य, शिव और सुन्दर के मानवोचित आदर्श और जीवन मूल्य हर युग मे जन-समूह की प्रगतिशील आकांक्षाओं के प्रतीक और उनके जीवन-संघर्ष के सम्बल बनते आये हैं। स्वतंत्र-चेता और मानववादी लेखकों और कलाकारों की कृतियों में समाज-जीवन के संघर्ष और बहु-संख्यक जन-समुदाय की इन आकांक्षाओं को सदा ही यथार्थ और मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है—अनेक अविस्मरणीय व्यक्ति-पात्रों की सृष्टि द्वारा। इस प्रकार उन्होंने व्यष्टि में समष्टि को झलकाया है। कला का यही विशिष्ट विधान है। उदाहरण के लिए छठी शताब्दी से पहले बुकेसियो ने अपने 'डी केमरान' में ऐसे समाज का चित्र खींचा जिसमें पादरी और मध्यवर्ग के लोगों के जीवन-मूल्य इतने भोगवादी हो गये थे कि वे अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए जघन्य-से-जघन्य कार्य कर सकते थे। 'डान क्विक्जोट' तब लिखा गया जब स्पेन में व्यापार, पर्यटन, औपनिवेशिक व्यवसाय और उद्योगों का विकास हो गया था और विशाल नगरों की सभ्यता मध्यकालीन जीवन की निश्चलता को नष्ट कर